विवेक-ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

विवेकानन्द आश्रम

रायपुर

वर्ष ४
अंक ३

"मध्यप्रदेश शिक्षा विभाग के आदेश क्रमांक स। विधा। टा। ५९४
दिनांक ४ मार्च १९६४ द्वारा स्वीकृत"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित
हिन्दी त्रैमासिक

जुलाई-सितम्बर १९६६

प्रधान सम्पादक
स्वामी आत्मानन्द,

सह-सम्पादक
सन्तोषकुमार झा, रामेश्वरनन्द

विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर (मध्य प्रदेश)
फोन नं० १०४९

विवेक ज्योति नियमावली

वार्षिक चन्दा	भारत में — ४)	एक अंक का १)
	विदेशों में – २ डालर या १० शिलिंग	

ग्राहकों के लिये —

१. 'विवेक-ज्योति' जनवरी, अप्रैल, जुलाई और अक्तूबर महीने में प्रकाशित होती है। इसका वार्षिक चन्दा मनीआर्डर से भेजना चाहिए। पिछली प्रतियाँ बाकी रहने पर ही भेजी जा सकती है।

२. ग्राहकों को पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक-संख्या, नाम और पता स्पष्ट अक्षरों में लिखना चाहिए।

३. यदि कोई अंक न मिले, तो डाकखाने में पहले पूछताछ करनी चाहिये। जिस अवधि का अंक न मिला हो उसी अवधि में सूचना प्राप्त होने पर, अंक की प्रति बची रहने पर ही भेजी जायगी।

४. यदि पता बदल गया हो, तो उसकी सूचना तुरन्त दी जानी चाहिए।

लेखकों के लिये —

१. 'विवेक-ज्योति' में आध्यात्मिक, धार्मिक, सांस्कृतिक लेख तो रहेंगे ही, पर शिक्षा, मनोविज्ञान, कला, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, विज्ञान प्रभृति महत्वपूर्ण विषयों पर जीवन के उच्चतर मूल्य सम्बन्धी लेख भी उसमें प्रकाशित किए जायेंगे। इसी प्रकार उच्च भावों की प्रेरणा देने वाले ऐतिहासिक और राष्ट्रीय चरित्रों के लिए भी इस त्रैमासिक में स्थान रहेगा। सुसंस्कृत अभिरुचिपूर्ण कविता, विशिष्ट दृष्टिकोण से लिखे

गये यात्रा-प्रसंग तथा पुस्तकों की समीक्षा को भी इसमें स्थान प्राप्त होगा।

२. किसी प्रकार की व्यक्तिगत या विघातक टीका के लिए 'विवेक-ज्योति' में स्थान न रहेगा।

३. लेख में प्रतिपादित मत के लिए लेखक ही जिम्मेदार रहेगा।

४. लेख को प्रकाशन के लिए स्वीकृत करने पर उसको सूचना एक माह के भीतर दी जायगी। अस्वीकृत रचना आवश्यक टिकट प्राप्त होने पर ही वापस की जायेंगी।

५. यदि लेख एक अनुवाद हो, तो लेखक को साथ में यह भी सूचना देनी चाहिए कि अनुवाद की आवश्यक अनुमति ले ली गयी है।

६. कागज के एक ही ओर सुवाच्य अक्षरों से लिखे जायँ।

७. लेख संबंधी पत्र-व्यवहार सम्पादक से करना चाहिए।

— व्यवस्थापक

— सूचना —

'विवेक-ज्योति' के पिछले अंकों की कुछ प्रतियाँ प्राप्य हैं। जो इन पिछले अंकों का संग्रह करना चाहते हैं, वे १) की एक प्रति के हिसाब से खरीद सकते हैं। सुन्दर उद्बोधक विचारप्रवण लेखों से परिपूर्ण 'विवेक-ज्योति' का हर अङ्क संग्रहणीय है।

— व्यवस्थापक, 'विवेक-ज्योति'

अनुक्रमणिका

कव्हर चित्र परिचय—

स्वामी विवेकानन्द, (कलकत्ता, १८८६ ई०)

"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण - विवेकानन्द - भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ४] जुलाई - १९६६ - सितम्बर [अंक ३
वार्षिक शुल्क ४) -*- एक प्रति का १)

सिद्धि कैसे मिले

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

— जिस परमात्मा से सर्वभूतों की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सारा संसार व्याप्त है, उस परमेश्वर को अपने स्वभाव-प्राप्त कर्म द्वारा पूजकर मनुष्य सिद्धि को प्राप्त होता है ।

— गीता, १८।४६

'वेदान्ती'

बंगाल में एक छोटीसी रियासत है। वहाँ के जमींदार अपने दिनों में दुर्गा-पूजा का भव्य समारोह करते थे। महीना भर पहले से ही उनके बृहद् दालान में चहल-पहल मच जाती। कलकत्ते से दुर्गा माता की मूर्ति गढ़ने कलाकार आ जाता। जैसे जैसे पूजा के दिन समीप आते, ग्रामवासियों का उत्साह बढ़ने लगता। आम की पत्तियों के तोरणों और झालरों से सजावट की जाती। केले के पेड़ खड़े किये जाते। और जब देवी की प्राण-प्रतिष्ठा कर षष्ठी के दिन उसका विधिवत् उद्बोधन किया जाता, तब तो वातावरण उल्लास से भर जाता। पूजा के दिनों देवी के समक्ष बकरों की बलि दी जाती और छककर महाप्रसाद का सेवन किया जाता।

एक वर्ष आयोजन कुछ फीका रहा। महीने भर पहले से जो चहल-पहल रहा करती थी, वह भी कम रही। पूजा में से बलि का कार्यक्रम भी निकाल दिया गया। किसी मित्र ने जमींदार से पूछा, "क्यों भाई, इस वर्ष तो तुमने हमें निमंत्रण नहीं दिया पूजा का। सुना कि पहले-सी रौनक नहीं थी इस साल। क्या बात है?" जमींदार ने उत्तर दिया, "बात यह है कि अब मैं वेदान्ती हो गया हूँ।"

मित्र चकरा गये। उन्होंने कभी कल्पना भी नहीं की थी कि उनका यह शाक्त मित्र कभी वेदान्ती भी हो सकता

है। वे अचरज में आकर जमींदार से बोले, "अरे! यह रोग तुम्हें कब से लग गया! तुम तो पिछले वर्ष तक पूरे शाक्त थे, देवी की पूजा-उपासना करते थे। वेदान्त के चक्कर में कैसे पड़ गये? तुम किसी संन्यासी के फेर में तो नहीं पड़े?"

मित्र की बात सुनकर जमींदार हँस पड़े। अपना पोपला मुँह मित्र को दिखाकर बोले, "अरे, तुमने मेरी बात समझी नहीं। देखो, मेरे सारे दाँत कुछ महीने पहले गिर गये। इसीलिए मैंने कहा कि अब मैं 'बेदान्ती' (बे-दाँती) हो गया हूँ। अब महाप्रसाद का मजा तो मैं ले नहीं सकता था। आशा करता हूँ कि तुम मेरी बात समझ गये होगे।"

मित्र ठठाकर हँस पड़े।

मनुष्य ईश्वर की पूजा भी स्वार्थवश करता है। उसकी जैसी भौतिक रुचि होती है उसी के अनुरूप वह पूजा-सामग्री का उपयोग करता है। इससे उसका आत्मिक कल्याण नहीं हो पाता। पूजा उसके लिए भोग का एक माध्यम बन जाती है। जब तक मनुष्य आत्म-विवेचन नहीं करता, जब तक वह देवी के स्वरूप पर विचार कर अपना सम्बन्ध उससे नहीं जोड़ता, तब तक पूजा भोग का एक साधनमात्र रहती है। भोग की शक्ति दूर होते ही पूजा का आयोजन भी शिथिल हो जाता है। मनुष्य को चाहिये कि वह इस प्रकार के 'बेदान्ती'-भाव से बचे।

मौन की रोगहर शक्ति

श्रीमत् स्वामी श्रद्धानन्दजी महाराज, रामकृष्ण मिशन, अमेरिका

हममें से प्रत्येक ने जीवन में कभी न कभी मौन के लाभकारी प्रभाव का अनुभव किया होगा। एक अत्यन्त व्यस्त व्यक्ति भी अपनी चर्या में नियमित अवकाश का स्थान रखता है। मौन जीवन का एक अत्यन्त आवश्यक उपादान प्रतीत होता है। जब हम किसी निर्जन स्थली अथवा झील के किनारे या उपवन में घूमते होते हैं अथवा पर्वत के शिखर पर पहुँचकर प्रकृति के रूप-माधुर्य का पान करते होते हैं तो हम वास्तव में अनजाने ही मौन की खोज में होते हैं और उसका उपभोग करते हैं, पर हमें हर समय मौन की इस महत्ता का भान नहीं रहता। जीवन में मन बहलाव के ऐसे अवसर भले ही बहुत कम प्राप्त होते हैं, पर जब कभी वे मिलते हैं तो हम उस प्रभाव को नहीं भूल सकते जो प्रकृति के साथ तादात्म्य हमारे चरित्र पर डालता है। फिर, कभी जब हम मध्यरात्रि में उठ जाते हैं जिस समय चारों ओर एक गहरी निस्तब्धता छायी होती है, उस समय हमें एक अभिनव अनुभूति होती है। ऐसा लगता है कि रात्रि का गहरा मौनभाव मानो हमारे अन्तर में घुसा जा रहा है। हाँ, यह भी सम्भव है कि मौन कभी भयावह भी हो जाय। कई लोग शब्द का नितान्त अभाव नहीं सह सकते। पर

इन अपवादों को यदि हम छोड़ दें तो हममें से अधिकांश लोग बीच बीच में प्रकृति के स्पर्श से अथवा घर में ही प्राप्त होने वाले मौन का स्वागत करते हैं और उससे लाभान्वित होते हैं। कभी कभी जब हम अकेले होते हैं और हमारे चारों ओर सब कुछ शान्त होता है, तो हमें एक प्रकार की स्फूर्ति प्राप्त होती है। हमारे स्नायुओं को ताजगी मिलती है और हमारी खोयी हुई शक्ति लौट आती है। कुल मिलाकर प्रभाव यह होता है कि हमारा तन और मन दोनों प्रफुल्ल हो जाते हैं।

फिर, सुषुप्ति भी जीवन में मौन की आवश्यकता को सिद्ध करती है। हम दिन भर कितने भी व्यस्त क्यों न हों, रात्रि में उस घड़ी की चाह रखते हैं जब हमारे विचार और भावनाएँ, इच्छाएँ और आशाएँ, चिन्ताएँ और जिम्मेदारियाँ -सब कुछ पीछे छूट जाता है। यह गहरी नींद है क्या? क्या वह मौन का ही अवसर नहीं है? यद्यपि हम उस अवस्था में सभी कुछ पीछे छोड़ जाते हैं, यहाँ तक कि शरीर का बोध भी छूट जाता है, तथापि उससे हम आनन्द प्राप्त करते हैं। वास्तव में निद्रा कोई शून्यता नहीं है। निद्रा के रहस्य को जानने के लिए न तो हमारे पास समय होता है और न रुचि ही। हम उस अवस्था में आराम और शान्ति पाते हैं - बस यही हमारे लिए पर्याप्त होता है। किन्तु उपनिषद् इस अवस्था के सम्बन्ध में बड़ा प्रकाश डालते हैं उपनिषदों के अनुसार, सुषुप्ति मानव-चेतना को विश्व-चेतना की भूमि के सन्निकट ले जाती है। यह विश्व-चेतना असीम शान्ति की

अवस्था है। यही कारण है कि हम नींद से जागने पर इतना तरोताजा अनुभव करते हैं।

प्रकृति की योजना ही ऐसी है कि ईश्वर ने शब्द और मौन, गति और स्थिरता दोनों को मिला दिया है। जरा बाहर असीम फैलाव की ओर देखो। आधुनिक वैज्ञानिक कहते हैं कि यह आकाश या फैलाव अनन्त रूप से विस्तृत हैं; इसमें लक्ष-लक्ष तारे अपने ग्रहों, आकाशगंगाओं और नीहारिकाओं आदि के साथ स्थित हैं। तथापि शून्य आकाश के फैलाव की तुलना में यह तारिकाओं और नक्षत्रों का विश्व अत्यन्त छोटा है। यदि ब्रह्माण्ड की किसी गड़बड़ी से आकाश-स्थिति सभी तारे-नक्षत्र-ग्रह-उपग्रह आपस में टकरा जाँय और नष्ट हो जायँ, तो इससे आकाश के फैलाव मे कोई फर्क न पड़ेगा। यह फैला हुआ आकाश क्या है? क्या वह अपरिमेय मौन का ही प्रतीक नहीं है? हम अपने इस छोटे से ग्रह से निकलने वाली आवाजों के योग की कल्पना करें। प्रति मिनट कोटि-कोटि मनुष्यों और अन्य जीवधारियों तथा मशीनों और अन्यान्य प्राकृतिक घटनाओं द्वारा जो आवाजें निकल रही हैं, उन सबको जोड़ दें। इसी प्रकार इस अन्तरिक्ष में जितने भी ग्रह-उपग्रह हैं, उनमें से प्रत्येक में उत्पन्न होनेवाली आवाजों को जोड़ दें। तत्पश्चात् यदि हम विभिन्न ग्रहों और उपग्रहों की आवाजों को आपस जोड दें तो विश्व में उत्पन्न होने वाली आवाजों का वह कुल योग कैसा भयंकर न होगा! तो भी आकाश की अनन्त स्तब्धता की तुलना में यह सारी आवाज कुछ भी

नहीं है। विश्व में सर्वत्र बड़ी ही सक्रियता है, गति है; जड़, ऊर्जा जीवनतत्त्व और मनस्तत्त्व का आपस में भीषण संघर्षण है। पर इसके साथ ही चित्र का दूसरा पहलू भी है। इन समस्त जागतिक व्यापारों की पृष्ठभूमि में असीम आकाश (देश) और काल का अमित मौन है; क्योंकि देश (आकाश) के समान काल भी निस्सीम है। वह एक सतत् बहने वाली नदी के समान है जिसको इस बात की परवाह नहीं कि उसके भीतर क्या घट रहा है। अतः देश और काल दोनों उस जागतिक हलचल के मौन प्रहरी हैं जिसे हम संसार-घटना कहते हैं। यदि ईश्वर सृष्टि की इस योजना के दायी हैं तो उन्होंने न केवल विकास अथवा गति को ही स्थान दिया है बल्कि उस मौन को भी, जो देश और काल के इस अनन्त विस्तार में ओतप्रोत है।

पर यह सब बाहरी मौन की बात है—हमारे वातावरण की निस्तब्धता है। यदि हम अपने आध्यात्मिक जीवन का प्रश्न छोड़ दें, तो भी अपने भौतिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिए हममें से प्रत्येक को यह आवश्यक हो जाता है कि हम यथाशक्ति इस मौन का लाभ उठाएँ। मौन का प्रारंभिक अभ्यास यह है कि हम कुछ समय के लिये चुपचाप बैठ जाएँ और मन में किसी गंभीर विचार या क्रियाशीलता को पैठने न दें। इस प्रकार, भले ही वह दस मिनट के लिए क्यों न हो, यदि हम अपने आप में स्थिर रहें तो वह हमारे शारीरिक स्वास्थ्य के लिये भी 'टानिक' का काम करता है। इस अभ्यास से हमारी चिन्ताएँ और मन की चंचलता भी

कम होती है। कभी कभी ब्राह्म मुहूर्त में उठने की कोशिश करो। उस समय सब कुछ निस्तब्ध रहता है। रात्रि के गांभीर्य को अनुभव करने का प्रयत्न करो। इससे आश्चर्य जनक रूप से मन का तनाव दूर होगा।

बाह्य मौन की अपेक्षा आन्तरिक मौन अधिक महत्त्व-पूर्ण है। इस अवस्था में कामनाओं और वासनाओं की उत्ताल तरंगों के बीच हमारा मन शान्त भाव धारण करता है। जब हम बाहर देखते हैं तो जैसे यह विश्व गति और निस्तब्धता से मिला हुआ दीखता है, उसी प्रकार हमारे अन्तर्जगत् में भी गति और मौन दोनों हैं। साधारणतया जब हम अपने मन के अंदर देखते हैं तो केवल सतही घटनाएं, विचार, संवेदनाएँ और इच्छाएँ ही दीख पड़ती हैं। मौन का बृहत् पृष्ठभाग हमें नहीं दिखाई पड़ता। परन्तु यदि यथोचित प्रयत्नों के द्वारा हम भीतर के इस मौन का आविष्कार कर सकें तो हम अपनी अस्वस्थता ठीक कर ले सकते हैं। क्योंकि मानसिक अस्तव्यस्तता, निरंकुश वासना, अर्थहीन कामना और निपट हताशा से मन में जो अस्थि-रता और पीड़ा उपजती है वही हमारे लिए एक सांघातिक रोग के समान हो जाती है। हम चंचल हो जाते हैं, हममें कई कुंठाएँ बन जाती हैं; अतृप्त वासनाओं और आवेगों को दमित करने के कारण हमारे मन में गाँठें पड़ जाती हैं। ऐसा लगता है कि ये सब मिलकर हमारे व्यक्तित्व के टुकड़े टुकड़े कर देंगी। इस प्रकार मन मानो एक बड़ा बोझ बन जाता है, एक ऐसा शत्रु हो जाता है जिस पर हम

नियंत्रण नहीं कर पाते। हमें मालूम नहीं पड़ता कि किस प्रकार उससे जूझें। हो सकता है, हम मनस्तत्त्वविदों से भी सलाह ले लें, जिससे कभी तो हमें लाभ होता है और कभी नहीं। पर सत्य तो यह है कि मन की ये सारी विपरीत प्रवृत्तियाँ और उनका निरंकुश वर्तन हम स्वयं ही अपनी मूर्खता और गलत शिक्षा के कारण पैदा करते हैं। अतः उनके निवारण का उपाय भी हमारे अपने भीतर से उपजना चाहिए। अपने व्यक्तित्व के वास्तविक आधार को खोज निकालना ही वह उपाय है।

अब मैं उस भीतरी शांति को अनुभव करने का एक सरल अभ्यास बतलाता हूँ। वैसे इस अभ्यास को आध्यात्मिक नहीं कहा जा सकता। इसमें हम मन को थोड़ा एकाग्र करने का प्रयत्न करते हैं और मन का पीछा करते हैं, यह जानना चाहते हैं कि उसके भीतर क्या चल रहा है। इस अभ्यास में ईश्वर-चिंतन अथवा किसी आध्यात्मिक तत्त्व पर ध्यान करने की आवश्यकता नहीं; हम केवल चुपचाप बैठ जाते हैं और अपने विचारों की गति को देखने की कोशिश करते हैं। इस प्रकार मन के दर्शक के रूप में हम अपने आपको उस समय तक के लिए मानों मन के बाहर रख लेते हैं। उस समय मन में जो भाव उठते और गायब हो जाते हैं, उनके साथ अपने को युक्त नहीं करना चाहिए। जैसे, यदि कोई बुरे विचार मन में उठें तो उनसे पीड़ित नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार अच्छे विचारों से हमें फूलना भी नहीं चाहिए। हम मानों तटस्थ दर्शक के

समान होते हैं। मन का यह पीछा करना ही हमें धीरे धीरे आन्तरिक मौन के अनुभव की ओर ले जायेगा। हम देखेंगे कि विचारों का प्रवाह अब अनियमित रूप से मन के अन्दर नहीं आ रहा है। हमारे स्नायुओं का तनाव दूर होगा और हमारा मन आत्मसंयम की नई शक्ति पाकर पर्याप्त रूप से स्थिर हो जायेगा।

इस सरल अभ्यास की दूसरी सीढ़ी में हम एकाग्रता के लिए सक्रिय प्रयत्न करते हैं। साधारण रूप से एकाग्रता का अर्थ यह होता है कि मनको किसी एक विषय में लगा दिया जाय और उसे विचारों के प्रवाह में न बहने दिया जाय। अपनी अज्ञान की दशा में मन सर्वदा चंचल रहता है। ऐन्द्रिक विषय भोग उसे लगातार बाहर की ओर खींचते हैं और आसक्ति एवं कामनाएँ उसे भीतर मथती रहती हैं। मन की इस चंचल अवस्था का नियमन एकाग्रता के अभ्यास द्वारा किया जा सकता है। पर यहाँ, इस अभ्यास में, एक आध्यात्मिक दृष्टिकोण अनिवार्य है। इस एकाग्रता के द्वारा तुम अपने व्यक्तित्व की गहराई तक पहुँचना चाहते हो, उस चैतन्य को पाना चाहते हो, जो तुम्हारे मन को तथा तुम्हारे अनुभव में आने वाले समूचे संसार को आलोकित करता है। ध्यान के लिए विषयों का चुनाव साधक की प्रवृत्ति के अनुसार भिन्न भिन्न रूप से हुआ करता है। कुछ लोगों के लिए किसी विग्रह या मूर्ति का ध्यान सरल होता है, जबकि अन्य कुछ लोग मन को किसी आध्यात्मिक तत्त्व या मंत्र पर स्थापित करना

अधिक सुविधाजनक समझते हैं। पर दोनों ही दशाओं में ध्यान का लक्ष्य एक ही है और वह है अपने आध्यात्मिक सारतत्त्व को प्राप्त करना, अपने जीवन के आधार या अपनी आत्मा को पा लेना। हम जितनी मात्रा में यह कर सकते हैं, उसी के अनुरूप मन का स्थैर्य, धैर्य, सामंजस्य और शांति प्राप्त करते हैं।

आध्यात्मिक जीवन वस्तुतः मौन का जीवन है। जैसे जैसे हम आध्यात्मिक जीवन के रास्ते पर आगे बढ़ते हैं, वैसे वैसे आन्तरिक मौन अधिक गहरा और संस्कारित होता जाता है। ईश्वर के प्रेम का तात्पर्य क्या है? उसका अर्थ है एक ऐसी शान्ति का अनुभव, जो हमारे मन के मूलभूत अज्ञान को दूर करता है, वासनाओं और विक्षिप्तता के जाल को छिन्न करता है तथा संसार के खोखलेपन से हमारी रक्षा करता है। इसके लिए उसके सिवा अन्य कोई रास्ता नहीं है। हम ईश्वर से जितना ही प्रेम करते हैं, आध्यात्मिक अर्थ में हम उतना ही मौन हो जाते हैं। तब हमारे अस्थिर मन से कोई 'रव' नहीं निकलता। उपनिषदों में ईश्वर का वर्णन 'शान्तम् शिवम्' के रूप से किया गया है। हम अपने प्रेम के द्वारा ईश्वर के जितना सन्निकट होते हैं, हमारी सांसारिक आसक्तियाँ उतनी ही कम होती हैं। दैवी प्रेम के स्पर्श से हम पूरी तरह परिवर्तित हो जाते हैं; जीवन के प्रति हमारा दृष्टिकोण आश्चर्यजनक रूप से बदल जाता है। हमारी लिप्सा, घृणा और पैशाचिक कामनाएँ दूर हो जाती हैं और सारा संसार एक नया रूप

लेकर हमारे समक्ष अवतरित होता है। यह ईश्वर-प्रेम हमारे जीवन को शान्त बना देता है। इसका मतलब यह नहीं कि हम पाषाणवत् हो जाते हैं। आध्यात्मिक शांति का मतलब जड़ता नहीं है। वह तो उच्चतम बुद्धि और गंभीर अन्तःप्रेरणा के प्रति सजगता है, जहाँ बाहर की आवाज और उलझनें कोई बाधा नहीं पहुँचा पातीं। वहाँ हम सामंजस्य और शांति के अधिकारी हो जाते हैं। सारे जगत् की जबरदस्त क्रियाशीलता हमें भगवान् की मौन लीला मालूम पड़ती है।

आध्यात्मिक मौन की रोगहर शक्ति का अनुभव निःस्वार्थ कर्मों के द्वारा भी किया जा सकता है। यदि हम अपने आपको कर्ता अथवा भोक्ता न मानकर अपने समस्त कर्म ईश्वर को समर्पित करदें तो यह असंग भाव हमें शान्त होने में सहायता प्रदान करेगा। निरंतर परिव्याप्त शांति ही हमारे जीवन का आधार है। वह हमारी सतही मानसिक क्रियाओं तथा अवचेतन आवेगों से दूर है। हम उसे ईश्वर कहें या अपनी अंतरात्मा कहें, पर वस्तुतः वह एक नित्य आध्यात्मिक सत्य है जो अपनी ही महिमा में विराजमान है। यद्यपि हम सर्वदा ही इस सत्य में निवास कर रहे हैं तथापि हमारी अहं-वृत्ति और मिथ्या व्यक्तित्व के कारण वह हमारे लिए आवरित हो गया है। निःस्वार्थ कर्म धीरे धीरे इस आवरण को नष्ट करते जाते हैं और एक दिन हम उस शांति का साक्षात्कार कर लेते हैं जो मन और बुद्धि से परे है।

अंत में, अपनी सत्ता के मौन का अनुभव करने के लिए वेदान्त का रास्ता है और वह है द्रष्टा और दृश्य का विवेक करना। आत्मा दृक् है, नित्य द्रष्टा है और शेष सभी दृश्य की श्रेणी में आते हैं। गति, ध्वनि, विक्षेप और क्रिया शीलता ये सब दृश्य के क्षेत्र में आते हैं। इन सब के पीछे वह नित्य साक्षी, हमारी प्रकृत आत्मा, विद्यमान् है। हम जितना ही इस तथ्य को समझेंगे, हम उतना ही आत्मा के सन्निकट होंगे। दूसरे शब्दों में, हम उस मूलभूत मौन के निकट पहुँचेंगे। एकबार हमने द्रष्टा और दृश्य को अलग अलग कर लिया तो हम अपनी आत्मा में स्थित हो सकेंगे। आत्मा विचार का विषय कभी बन नहीं सकती। कोई भी बात उसकी मौन गरिमा को हानि नहीं पहुँचा सकती। वह आत्मा सभी के पहले गई हुई है। सर्वप्रथम नित्य सत् चित् रूप इस आत्मा का होना अनिवार्य है और तब उसके बाद अन्य बातें आती हैं। जब मैं आत्मा की भूमिका पर खड़ा होता हूँ तो मेरा शरीर भी मेरे लिए बाहरी हो जाता है। मेरा मन, मेरे विचार, मेरी जीवन की गतिविधियाँ ये सब बाह्य हो जाते हैं। यह मनन और विश्लेषण की प्रक्रिया है। अद्वैत वेदान्त में हम इसे 'नेति नेति' कहते हैं। हमें अपने प्रकृत निकेतन से अन्य सभी को बाहर ढकेल देना पड़ता है। एक आध्यात्मिक अर्थ में हमें अत्यन्त स्वार्थी होना पड़ता है; अर्थात्, हमें यह जान लेना चाहिए कि आत्मा में अन्य किसी के लिए स्थान नहीं है। पर यह भी सत्य का अंतिम चित्रण

नहीं है। फिर भी जब हम आत्मा की ओर जाते हैं तो हमें इस प्रकार की कठोरता का अभ्यास करना पड़ता है, क्योंकि दुर्भाग्य से हमारे लिये द्रष्टा और दृश्य दोनों आपस में गुँथे हुए हैं और यही सारी बुराइयों की जड़ है। यह एक घातक अर्बुद के समान है जिसके लिए शल्यक्रिया अनिवार्य हो जाती है। शल्य चिकित्सा कोई क्रूरता नहीं है। शल्य क्रिया करने वाला सर्जन हमारा मित्र है क्योंकि वह उस अर्बुद से हमारी रक्षा करना चाहता है। आत्मा का अनात्मा के साथ मिलजुल जाना ही जीवन की मूल-भूत व्यथा है और इस आध्यात्मिक अर्बुद के कारण हमारा मन भ्रमपूर्ण धारणाओं से भरा हुआ है। इसीलिये वेदान्त में हम कहते हैं—'मैं यह नहीं हूँ, मैं यह नहीं हूँ, मैं यह नहीं हूँ।' इसका हमें अभ्यास करना पड़ता है। और जब हम अपनी प्रकृत आत्मा को पा लेते हैं तो हम देखते हैं वह अनात्मा के साथ कभी भी नहीं मिल सकती। यह आत्मा वस्तुतः और नित्यरूप से शान्त है। रोग, वासना मृत्यु, निराशा अथवा दुख आत्मा के इस अनन्त मौन में बाधा नहीं पहुँचा सकता। यह माया का, सारे अज्ञान का, अन्त है। तब हम शांति के केन्द्र में स्थायी सुरक्षा और आनन्द के उत्सव में पहुँच जाते हैं; मौन के साथ एकरूप होकर, शब्द अथवा अपूर्णता से अस्पर्शित रहकर, हम पूरी तरह निरोग बन जाते हैं।

जब हम अन्त में यह उपलब्धि करते हैं तो यह भी जान लेते हैं कि जिसे हम एक समय अपना न मानकर

बाहरी समझकर, दूर करना चाहते थे, वह वास्तव में हममें ही विद्यमान है। द्वैत नाम की कोई चीज नहीं है। केवल एकरस आत्मा ही विद्यमान है। इस स्थिति में बाहरी और भीतरी के सारे भेद लुप्त हो जाते हैं और तब आत्मा को मौन के रूप में वर्णन करना आवश्यक नहीं रह जाता, क्योंकि जहाँ शब्द अथवा गति का विरोध नहीं है, वहाँ मौन की कोई कल्पना नहीं की जा सकती। जो कुछ है वह आत्मा में ही है। जो कुछ है वह आत्मा ही है। सारे नाम, शब्द और भाव आत्मा के अन्तर्गत ही हैं। यही परमोच्च सत्य है और हम ऊपर बताए गए विभिन्न प्रकार के मौन के अनुभवों में से होकर इसी सत्य की ओर जाते हैं। इन अवस्थाओं में से होकर मौन क्रमशः अधिकाधिक रोगहर शक्ति प्राप्त करता जाता है और अन्त में हमारी आत्मा के उस चरम सत्य पर पहुँच कर उससे तद्रूप हो जाता है।

— 'वेदान्त फार ईस्ट एंड वेस्ट' से साभार।

卐

दुःख को दूर करने की एक ही अमोघ औषधि है — मन से दुखों की चिन्ता न करना।

— वेदव्यास

स्वामी सारदानन्द

डा० नरेन्द्र देव वर्मा

स्वामी सारदानन्द का पूर्व नाम शरतचन्द्र चक्रवर्ती था। उनका जन्म २३ दिसम्बर १८६५ को कलकत्ता के एक सम्पन्न और कट्टर ब्राह्मण परिवार में हुआ था। किन्तु बालक शरत-चन्द्र शनिवार के दिन पैदा हुए थे, इसलिये उनके माता-पिता नवजात शिशु के भविष्य के सम्बन्ध में काफी चिन्तित हो उठे थे। जब उनके ज्योतिषी चाचा ने बालक की कुण्डली पर विचार कर उसे होनहार और वंश को उज्जवल करने वाला बताया तब कहीं उनकी चिन्ता खत्म हुई। बालक शरत बाल्यावस्था में बड़े शांत थे। समान्य बालकों के समान वे चंचल नहीं थे। इसलिये उन्हें बुद्धिमान और मेधावी नहीं समझा जाता था। किन्तु जब उन्हें पाठशाला भेजा गया तब उनके परिजन यह जान कर बड़े विस्मित हुए कि यह बालक मंद बुद्धि का नहीं है और इसकी बुद्धि बड़ी तेज है। बालक शरत अपनी कक्षा के सबसे होशियार विद्यार्थी माने जाते थे और सभी परीक्षाओं में अव्वल आया करते थे। किन्तु वे किताबी कीड़े ही नहीं थे, शाला के अन्य कार्यक्रमों में भी वे बड़े उत्साह से भाग लिया करते थे। उन्हें वादविवाद में हराया नहीं जा सकता था। वे कुश्ती के भी शौकीन थे। फलतः उनका शरीर अन्य बालकों की अपेक्षा अधिक पुष्ट और सुडौल था।

बाल्यावस्था से ही बालक शरत की आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ उभरने लगी थीं। जब उनकी माता कुलदेवता की पूजा करतीं तब वे उनके समीप बैठकर बड़े मनयोग से उनकी पूजा को देखा करते थे। खेलते समय वे संस्कृत के मंत्रों का शुद्ध उच्चारण कर अपने साथियों को आश्चर्यचकित कर दिया करते थे। पर्वों और छुट्टियों में जब अन्य बालक गुड़ियों को खरीद कर खेला करते थे, तब बालक शरत को देवी-देवताओं की मूर्तियों को खरीदकर उनकी पूजा करने के खेल में बड़ा आनन्द आता था। यज्ञोपवीत के बाद वे नियमित रूप से अपने कुलदेवता की पूजा किया करते थे।

बालक शरत बड़े दयालु थे। वे अपने गरीब सहपाठियों को यथाशक्ति सहायता किया करते। जेबखर्च के रुपयों से उनकी पढ़ाई के साधन जुटाने में उन्हें बड़ा संतोष मिलता था। कभी-कभी तो वे गरीबों को अपना कपड़ा तक उतारकर दे दिया करते थे। इसके अतिरिक्त वे बड़े करुणावान् भी थे। परिवार के किसी व्यक्ति के बीमार पड़ते ही वे तत्काल उसकी परिचर्या में जुट जाते थे। पास-पड़ोस के रुग्ण व्यक्तियों की सेवा करने में शरत सदैव तैयार रहते थे। एक बार उनके पड़ोस में काम करने वाली नौकरानी को हैजा हो गया। गृहस्वामी ने उसे छत पर मरने के लिये छोड़ दिया ताकि उसकी छूत फैल न सके। जैसे ही शरत को इसकी खबर मिली वैसे ही वे वहाँ जा कर उसकी सेवा में जुट गये और रोगिणी के पथ्य और औषधि की व्यवस्था कर दी। किन्तु नौकरानी बचायी नहीं

जा सकी। गृहस्वामी उसका अंतिम संस्कार करने के लिये भी तैयार नहीं थे। शरत ने ही उसके अंतिम संस्कार की व्यवस्था की।

कुछ बड़े होने पर शरत ब्राह्मसमाज के नेता श्री केशवचन्द्र सेन के सम्पर्क में आये। उनसे प्रभावित होने के कारण उन्होंने ब्राह्म साहित्य का अध्ययन किया और तदनुरूप ध्यान - उपासना करने लगे। शरत सन् १८८२ में एण्ट्रेंस परीक्षा पास कर सेण्ट एक्जवियर कालेज में दाखिल हुए। इस कॉलेज के प्रिंसिपल फादर लेफ्रान्ट शरत की धार्मिक अभिरुचि से अत्यन्त प्रभावित हुए और उन्हें बाइबिल पढ़ाने लगे। शरत के चचेरे भाई शशि भी उसी समय कलकत्ते के मेट्रापोलिटन कालेज में पढ़ा करते थे। एक दिन शशि को उनके किसी मित्र ने बताया कि दक्षिणेश्वर में एक महान संत रहते हैं और उनकी महानता से प्रभावित होकर श्री केशवचन्द्र सेन ने 'इण्डियन मिरर' में बड़ा मार्मिक लेख लिखा है। जब शशि ने शरत को यह समाचार दिया तो वे बड़े प्रसन्न हुए और दक्षिणेश्वर जाने की योजना बनाने लगे।

सन् १८८३ के अक्टूबर महीने में शरत और शशि दक्षिणेश्वर के महान संत का दर्शन करने के लिये पहुँचे। उन्हें देखकर श्रीरामकृष्णदेव ने ललककर उनका स्वागत किया। जब श्रीरामकृष्णदेव को यह ज्ञात हुआ कि वे लोग नियमित रूप से ब्राह्मसमाज की प्रार्थना-सभा में जाते हैं तो वे बहुत प्रसन्न हुए और उपस्थित भक्त - समुदाय को

सम्बोधित कर कहने लगे, "यदि ईंट और खपरे को कम्पनी का निशान लगाकर पकाया जाय तो वह निशान कभी नहीं छूटता। पर आजकल लोग अपने पुत्रों का विवाह बहुत जल्दी कर दिया करते हैं। जब वे पढ़ाई खतम करते हैं तो उनके दो-तीन बच्चे हो चुके होते हैं। ऐसी दशा में उन्हें अपने परिवार का भरण-पोषण करने के लिये नौकरी की तलाश में इधर-उधर भटकना पड़ता है।" श्रीरामकृष्णदेव की बात को सुनकर एक व्यक्ति ने प्रश्न किया, "महाराज, विवाह करने में क्या हानि है ? क्या यह ईश्वरेच्छा के विपरीत है ?" तब श्रीरामकृष्णदेव ने उसे ताक पर रखी किताब उठाकर उसमें से ईसा के विवाह विषयक विचारों को पढ़ने के लिये कहा। उस व्यक्ति ने पढ़ा, "कुछ क्लीब माता के गर्भ से ही क्लीब बनकर पैदा होते हैं। कुछ क्लीब क्लीबों के द्वारा पैदा किये जाते हैं। कुछ क्लीब स्वर्ग का राज्य पाने के लिये स्वयं को क्लीब बना लेते हैं। जो पाने के योग्य है उसे अवश्य मिलेगा" संत पाल कहते हैं, "इसीलिये मैं अविवाहिताओं और विधवाओं से कहता हूँ कि वे मेरे समान स्वयं को संयमित करें। इससे उनका कल्याण होगा। पर यदि वे इससे सुखी नहीं होतीं तो उन्हें विवाह कर लेना चाहिये क्योंकि जलने की अपेक्षा विवाह कर लेना अच्छा है।" इन विचारों को सुनकर श्रीरामकृष्णदेव ने कहा कि विवाह ही सभी बन्धनों की जड़ है। एक व्यक्ति ने पुनः जिज्ञासा की, "महाराज, क्या आप यह कहना चाहते हैं कि विवाह ईश्वरेच्छा के

विरुद्ध है ? यदि लोग विवाह नहीं करेंगे तो ईश्वर की सृष्टि का विकास कैसे होगा ?" श्रीरामकृष्णदेव उसकी बात सुनकर मुस्कराये और उन्होंने कहा, "तुम्हें इसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। जो विवाह करना चाहते हैं उन्हें पूरी छूट है। मैंने तो अपने लोगों के बीच में यह बात कही थी। तुम्हें इसमें से जो अच्छा लगे उसे ग्रहण करो।"

शशि और शरत श्रीरामकृष्णदेव की इस वैराग्यपूर्ण वाणी का विमुग्ध होकर पान कर रहे थे। इन वचनों ने उनके अन्तस को छू दिया। उन्हें जीवन के प्रति एक नये दृष्टिकोण की प्राप्ति हुई शरत का कालेज गुरुवार को बन्द रहा करता था इसलिये उन्होंने प्रति गुरुवार दक्षिणेश्वर जाने का नियम बना लिया। जैसे-जैसे वे श्रीरामकृष्णदेव के सम्पर्क में अधिकाधिक आते गये वैसे-वैसे वे उनसे घनिष्ठतर सम्बन्ध की अनुभूति करने लगे। युगावतार के दर्शन-श्रवण से उनके मन में सांसारिकता के प्रति तीव्र घृणा का संचार हो गया। वे श्रीरामकृष्णदेव के अलौकिक-प्रेम वारि में डूबने-उतराने लगे। श्रीरामकृष्णदेव अपने इस नवागत शिष्य की आध्यात्मिक रुचियों को जानते थे। अब वे भी शरत के आध्यात्मिक जीवन-गठन में जुट गये। एक बार वे अपने भक्त-वृन्दों के बीच गणेश की महानता पर चर्चा कर रहे थे। उन्होंने कहा कि गणेश अनन्य मातृ-भक्ति के प्रतीक हैं। शरत भी वहाँ उपस्थित थे। उन्होंने श्रीरामकृष्णदेव से कहा, "महाराज, गणेश का चरित्र मुझे बहुत अच्छा लगता है। वे मेरे

इष्टदेव हैं।" तत्काल ही श्रीरामकृष्णदेव उन्हें सुधारते हुए बोले, "नहीं, नहीं, गणेश तुम्हारे इष्ट नहीं हैं। तुम्हारे इष्टदेव तो शिव हैं। तुममें शिव का अंश है। तुम्हें सदैव स्वयं को शिव के रूप में समझना चाहिये और मुझे शक्ति के रूप में जानना चाहिये। मैं तुम्हारी समस्त शक्तियों का चरम कोष हूँ।"

इस प्रकार श्रीरामकृष्णदेव ने बातों ही बातों में शरत को उनके इष्टदेव का निर्देश कर दिया था। एक दिन उन्होंने शरत से पूछा, "अच्छा, बताओ तुम्हें ईश्वर का दर्शन करना कैसा लगता है? तुम्हें ईश्वर के किस रूप का ध्यान करने में आनन्द आता है?" शरत ने उत्तर दिया, "मैं तो ईश्वर के किसी विशेष रूप पर ध्यान नहीं करना चाहता। मैं उन्हें संसार के समस्त जीवों में व्याप्त देखना चाहता हूँ। उनके किसी विसिष्ट रूप का दर्शन करने की मेरी इच्छा नहीं है।" तब श्रीरामकृष्णदेव ने उन्हें हँसते हुए समझाया, "अरे यह तो आध्यात्मिक उपलब्धि की आखिरी सीढ़ी है। इसे तुम एक बारगी नहीं पा सकते।" शरत बोले, "पर मैं ता इसके सिवा किसी अन्य अनुभूति से संतुष्ट नहीं हो सकूँगा। जब तक मुझे यह चरमानुभूति नहीं मिल जाती तबतक मैं आध्यात्मिक साधना में लगा रहूँगा।"

श्रीरामकृष्णदेव का दर्शन करने से पहले ही शरत नरेन्द्रनाथ से मिल चुके थे। किन्तु वे एक ऐसी परिस्थिति में नरेन्द्रनाथ से मिले थे जिससे वे उनके सम्बन्ध में कोई अच्छी धारणा नहीं बना सके थे। एक दिन शरत को पता

चला कि उनका एक मित्र कुसंगति में पड़कर कुपथगामी बन गया है। वे उसे समझाने के लिये उसके घर गये। उनके मित्र के पास एक और युवक बैठा हुआ था। वह युवक उन्हें बड़ा अहंकारी और अशिष्ट लगा। उन्होंने सोचा कि सम्भवतः इसी की संगति में उनका मित्र बिगड़ गया है। इस घटना के कुछ ही महीने बाद उन्होंने श्रीराम-कृष्णदेव के मुख से नरेन्द्रनाथ नामक युवक की बड़ी प्रसंशा सुनी। इससे प्रभावित होकर उन्होंने नरेन्द्रनाथ से मिलने का विचार किया और श्रीरामकृष्णदेव से उनके घर का पता पूछा। जब वे नरेन्द्रनाथ के घर पहुँचे तो उन्हें यह देखकर बड़ा अश्चर्य हुआ कि नरेन्द्रनाथ तो वही युवक हैं जिसे उन्होंने पहली नजर में बड़ा अहंकारी और अशिष्ट समझा था। कालान्तर में उनका परिचय घनिष्ठ मैत्री में बदल गया। बाद में तो वे दोनों घण्टों कलकत्ता की गलियों में गम्भीर विषयों पर चर्चा करते हुए घूमते रहते थे।

सन् १८८४ के एक दिन दोपहर को नरेन्द्रनाथ शरत के घर आये। जाड़े के दिन थे। बातचीत में समय का ध्यान नहीं रहा। अब तक शरत श्रीरामकृष्णदेव को एक पहुँचा हुआ साधु ही मानते थे। किन्तु जब नरेन्द्रनाथ ने श्रीरामकृष्णदेव के पावन संसर्ग में प्राप्त अनुभूतियों की चर्चा की तब उन्हें ज्ञात हुआ कि श्रीरामकृष्णदेव ईसा-जैसे महान् पैगम्बरों के समान ऊँचे हैं। सन्ध्या हो चली थी। दोनों मित्र कार्नवालिस स्ट्रीट की ओर घूमने निकले। बातों का दौर चलता रहा। इसी बीच नरेन्द्रनाथ ने सुमधुर

स्वर से एक गीत गाया। हठात् नौ का घण्टा बजा। दोनों चौंक पड़े। नरेन्द्रनाथ थोड़ी दूर तक शरत को पहुँचाने के विचार से उनके घर की ओर लौटे। बातों ही बातों में शरत का घर भी आ पहुँचा। शरत ने नरेन्द्रनाथ से भोजन करने का अनुरोध किया और वे मान गये। शरत के मकान में घुसते ही उन्हें ऐसा लगा कि वे इस मकान से चिर-परिचित हैं। उसकी एक-एक दीवार और एक-एक कोना उनका जाना हुआ है। वे बड़े विस्मित हुए और सोचने लगे कि शायद यह पूर्वजन्म की स्मृति हो। जब श्रीराम-कृष्णदेव को उनकी मैत्री की सूचना मिली तब वे प्रसन्नता प्रकट करते हुए बोले, "गृहिणी जानती है कि कौन सा ढक्कन किस बर्तन का है!"

सन् १८८५ में शरत नें कला की प्रारम्भिक परीक्षा उत्तीर्ण कर ली थी। उनके पिता उन्हें अब मेडिकल कालेज में पढ़ाना चाहते थे। इसका कारण यह था कि उनके पिता की एक फार्मेसी थी जिसकी देखभाल के लिये उन्हें एक डाक्टर रखना पड़ता था। उनके पिता चाहते थे कि शरत पढ़ लिखकर फार्मेसी का काम चलाये। पर शरत का मेडिकल कालेज की पढ़ाई पसंद नहीं थी। नरेन्द्रनाथ के अनुरोध से उन्होंने वहाँ नाम तो लिखा लिया था पर उनकी पढ़ाई अधिक दिन नहीं चल सकी। इसी बीच श्रीरामकृष्णदेव गले की व्याधि से पीड़ित होकर काशी-पुर उद्यान में रहने लगे थे। शरत भी अन्य भक्तों के साथ उनकी सेवा में जुट गये।

जब शरत के पिता श्रीयुत गिरीशचन्द्र चक्रवर्ती ने देखा कि उनका पुत्र पढ़ाई-लिखाई में बिलकुल ध्यान नहीं दे रहा है और दक्षिणेश्वर के 'पागल ब्राह्मण' के फेर में पड़ा हुआ है जिसे लोग श्रीरामकृष्ण परमहंस कहते हैं, तब उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। वे कट्टर ब्राह्मण थे। प्रसिद्ध तांत्रिक पण्डित जगन्नाथ तर्कालंकार उनके कुलगुरु थे। वे यह बर्दाश्त नहीं कर सकते थे कि उनका पुत्र ऐसे महान् कुल-गुरु को छोड़कर दक्षिणेश्वर के 'छोटे पुजारी' को गुरु माने जिसे लोग आचारभ्रष्ट ब्राह्मण कहते हैं। उनके पिता ने अपने पुत्र को श्रीरामकृष्ण के फंदे से छुड़ाने के लिये एक युक्ति की। उन्होंने तर्कालंकार जी को बुलाकर सारी स्थिति समझायी और उनके साथ श्रीरामकृष्णदेव से मिलने के लिये काशीपुर-उद्यान पहुँचे। शरत के पिता को यह विश्वास था कि जब तर्कालंकार जी श्रीरामकृष्ण को शास्त्रार्थ में पराजित कर देंगे तब उनके पुत्र पर से श्रीरामकृष्ण का प्रभाव जाता रहेगा। तर्कालंकार जी श्रीरामकृष्णदेव के साथ एक-दो क्षण बातचीत करके ही यह जान गये कि वे महापुरुष हैं, उनकी ऊँचाई की माप नहीं की जा सकती। तब उन्होंने चुपके से श्री गीरीशचन्द्र चक्रवर्ती को बताया कि उनका पुत्र धन्य है जिसे इतने महान् गुरु मिले हैं।

जब शरत पूरी तरह से श्रीरामकृष्णदेव की सेवा में लग गये। १ जनवरी, सन् १८८६ को श्रीरामकृष्णदेव को दैवी भावावेश हो आया और वे उपस्थित भक्तों को उनकी धारणा के अनुरूप आध्यात्मिक-भाव-सम्पदा का वितरण

करने लगे। युगावतार उस दिन कल्पतरु बन गये थे और लोगों को स्पर्शमात्र से दुर्लभ अनुभूतियाँ प्रदान कर रहे थे। यह समाचार शीघ्र ही चारों ओर फैल गया और श्रीरामकृष्णदेव के समीप भक्त-गणों की भीड़ लग गयी। केवल शरत और लाटू ही वहाँ नहीं गये। बाद में एक व्यक्ति ने शरत से पूछा कि जब श्रीरामकृष्णदेव कल्पतरु बने थे तब उन्होंने उनके समक्ष उपस्थित होकर आध्यात्मिक अनुभूतियों की याचना क्यों नहीं की ? इसके उत्तर में शरत ने जो कहा उससे श्रीरामकृष्णदेव के प्रति उनके अगाध प्रेम और भक्ति का पता चलता है। शरत ने उत्तर दिया, "मुझे इसकी क्या आवश्यकता थी ? मैं भला वहाँ क्यों जाता ? क्या ठाकुर मेरे चरमस्नेही नहीं हैं ? मुझे जिस वस्तु की आवश्यकता होगी उसे वे स्वेच्छा से मुझे प्रदान करेंगे। यह मेरा विश्वास है। मुझे इसमें तनिक भी सदेह नहीं है। इसीलिये मेरे मन में उनके पास जाकर कुछ माँगने की थोड़ी भी इच्छा नहीं हुई।"

काशीपुर उद्यान में निवास करते समय श्रीरामकृष्ण-देव न अपने युवा-भक्तों को आदेश दिया कि वे भिक्षा माँगकर अपन भोजन की व्यवस्था करें। उनके भक्तों ने तत्काल उनकी आज्ञा का पालन किया। वे हाथ में भिक्षा-पात्र लेकर भीख माँगने निकले। किन्तु उनकी सूरत-शक्ल भिक्षुकों जैसी नहीं थी। भिक्षा माँगते समय उन्हें तरह-तरह के अनुभव हुए। कुछ उनपर दया दिखाते, कुछ उन्हें गालियाँ देते और कुछ अत्यधिक सहानुभूति प्रकट

करते हुए उन्हें भीख दे देते। इस काल के अनुभवों को बताते हुए परवर्ती काल में स्वामी सारदानन्द कहा करते थे, "उस दिन मैं एक गाँव में भीख माँगने गया। जिसप्रकार अन्य साधु भीख माँगा करते हैं उसीप्रकार मैं भी एक घर के सामने ईश्वर का नामोच्चार करता हुआ खड़ा हो गया। मेरी आवाज सुनकर एक प्रौढ़ा घर से निकली। जब उसने मेरे हृष्ट-पुष्ट शरीर की ओर ताका तो वह बड़ी क्रोधित हुई। वह चिल्लाकर कहने लगी, 'इतने हट्टे-कट्टे होकर भी तुम भीख माँगते हो? तुम्हें लज्जा नहीं आती? कम-से-कम तुम ट्राम-कंडक्टर तो बन ही सकते थे?' यह कहकर उसने जोरों से अपना दरवाजा बन्द कर दिया।"

श्रीरामकृष्णदेव के लीला-संवरण के उपरान्त शरत घर में रहने लगे। इससे उनके पिता को बड़ी प्रसन्नता हुई। किन्तु नरेन्द्रनाथ और राखाल उनके पास सदैव आया करते और शरत के साथ श्रीरामकृष्णदेव के आदर्शों के अनुरूप जीवन को ढालने की बातचीत किया करते थे। उनके बुलाने पर शरत पुनः अपने गुरुभाइयों से मिलने वराहनगर मठ जाने लगे। यह देखकर उनके पिता बड़े चिन्तित हुए और उन्होने अपने पुत्र को समझाया, "जब तक श्रीरामकृष्ण जीवित थे तबतक तुम्हारा उनके साथ रहना, उनकी सेवा करना और उनकी देखभाल करना उचित था। अब तो वे नहीं रहे। इसलिये अब तुम्हें घर पर ही रहना चाहिये।" पर शरत पर उनकी बातों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा और वे पूर्ववत् वराहनगर मठ जाने-

आने लगे। जब उनके पिता ने देखा कि उनका समझाना-बुझाना निष्फल है तब उन्होंने उन्हें एक कमरे में बन्द कर दिया और बाहर से कुण्डी चढ़ाकर ताला लगा दिया। वे यह सोचकर निश्चिन्त हो गये कि अब वह अपने मित्रों से नहीं मिल सकेगा। किन्तु इस नयी परिस्थिति से शरत तनिक भी चिन्तित नहीं हुए और सारा समय जप-ध्यान में बिताने लगे। एक दिन उनके छोटे भाई ने पसीजकर कमरे का दरवाजा खोल दिया। शरत छूटते ही वराहनगर मठ की ओर दौड़े और फिर कभी घर वापस नहीं लौटे।

श्रीरामकृष्णदेव के अन्य शिष्यों के साथ नरेन्द्रनाथ स्वामी प्रेमानन्द की जन्मभूमि आँटपुर सन् १८८६ के बड़े दिन को गये। वहाँ सभी गुरुभाइयों ने संन्यासी जीवन बिताने का निश्चय किया। दूसरे वर्ष के प्रारम्भ में सभी शिष्यों ने वराहनगर मठ में नरेन्द्रनाथ के नेतृत्व में संन्यास की दीक्षा ली। नरेन्द्रनाथ स्वामी विवेकानन्द बने और शरत को 'स्वामी सारदानन्द' नाम मिला। जब शरत के संन्यास-ग्रहण की सूचना उनके परिजनों को मिली तो वे उनके पास वराहनगर मठ आये, किन्तु उन्होंने कोई विरोध नहीं किया और शरत को इच्छानुसार जीवन व्यतीत करने की स्वतंत्रता दे दी।

स्वामी सारदानन्द परिवार की चिन्ताओं से पूरी तरह से मुक्त होकर कठोर तपस्या में लीन हो गये। गम्भीर रात्रि में वे स्वामी विवेकानन्द के साथ श्रीरामकृष्णदेव के पवित्र अवशेषों के समीप बैठकर ध्यान करते और सारी

रात व्यतीत कर देते। यद्यपि स्वामी सारदानन्द तपस्या में पूरी तरह से लीन हो गये थे फिर भी वे किसी कार्य की उपेक्षा नहीं करते थे। गुरुभाइयों की सेवा करना और अस्वस्थ होने पर उनकी परिचर्या करना उनके प्रिय कार्य थे।

उनकी आवाज़ बड़ी सुरीली थी। यदि कोई दूर से उनकी बोली को सुनता तो उसे स्त्री-स्वर ही समझता था। एक दिन रात को उनकी बोली को सुनकर पड़ोसियों को यह शंका हो गयी की मठ में कोई महिला है। वे इसका रहस्य जानने के लिये उतावले हो गये। उन्होंने मठ की चौहद्दी कूदकर पार की और चुपचाप अंदर झाँकने लगे। किन्तु जब उन्हें यह पता चला कि यह आवाज़ किसी स्त्री की नहीं अपितु स्वामी सारदानन्द जी की है तो उन्हें अपनी भूल पर बड़ी लज्जा आयी और वे उनसे क्षमा माँगने लगे। उनका कंठ-स्वर तो सुरीला था ही, किन्तु जब वे चण्डी-स्तोत्र का पाठ करते तो एक आध्यात्मिक प्रवाह बह निकलता और उपस्थित जनसमूह को सराबोर कर देता था। परवर्ती काल में वे श्रीरामकृष्णदेव और स्वामी विवेकानन्दजी की जयन्ती के अवसर पर एक-दो भक्ति-पूर्ण गीत गाया करते थे।

वराहनगर मठ में तपस्या में कुछ समय बिताकर स्वामी सारदानन्द मुक्त संन्यासी का-सा जीवन बिताने के लिये भ्रमण के लिये निकले। कुछ दिनों तक उन्होंने पुरी में भिक्षान्न पर निर्भर रहकर कठोर साधना की। फिर वे

बनारस, अयोध्या और हरिद्वार की यात्रा करते हुए हृषीकेश पहुँचे और तपस्या में लीन हो गये। सन् १८६० के ग्रीष्मकाल में यहीं उनकी भेंट स्वामी तुरीयानन्द जी और श्री बैकुण्ठनाथ सान्याल से हुई। उनके साथ वे केदारनाथ और बद्रीनाथ होते हुए गंगोत्री गये और लौटकर बनारस में पुनः तपस्या करने लगे। अत्यधिक परिश्रम के कारण सारदानन्द जी ज्वराक्रान्त हो गये। इसलिये उन्हें वराह-नगर मठ लौट जाना पड़ा।

उन दिनों स्वामी विवेकानन्द जी न्यूयार्क में वेदान्त की पताका फहराकर अमेरिका में धर्म प्रचार कर रहे थे। उन्हें वहाँ एक कुशल सहयोगी की आवश्यकता थी। इसलिये उन्होंने स्वामी सारदानन्द को वहाँ बुला लिया। लंदन में कुछ व्याख्यान देते हुए सारदानन्द जी न्यूयार्क पहुँचे और वहाँ रहकर वेदान्त सोसायटी का संगठन करने लगे। स्वामी विवेकानन्द भारत लौटकर श्रीरामकृष्णदेव के संदेश का प्रचार करने के लिये श्रीरामकृष्ण मिशन का गठन करने लगे। इसके कार्यों को सुचारु रूप से चलाने के लिये उन्होंने पुनः स्वामी सारदानन्द को वापस बुला लिया। अमेरिका में लगभग दो वर्षों तक धर्म-प्रचार के बाद स्वामी सारदानन्द भारत लौटे। यहाँ अनेकानेक कार्य और दायित्व उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। कलकत्ता पहुँचने पर उन्हें श्रीरामकृष्ण मठ और मिशन का सेक्रेटरी बना दिया गया।

सन् १६०० में स्वामी सारदानन्द भारत लौटे थे और

मिशन के कार्यों को सुचारु रूप से व्यवस्थित करने में लग गये थे किन्तु वे आश्रमवासियों की आध्यात्मिक प्रगति की ओर भी सचेष्ट रहते थे। इसी बीच वे स्वयं भी कठिनतर साधनाओं में प्रवृति हुए थे। उन्होंने श्री ईश्वरचन्द्र चक्रवर्ती के निर्देशन में तंत्र-साधना आरम्भ कर दी। तंत्र-साधना का चरमलक्ष्य सर्वत्र जगदम्बा की उपस्थिति का अनुभव करना है। स्वामी जी शीघ्र ही अपनी साधना में सफल हुए। 'भारत में शक्ति पूजा' नामक ग्रन्थ को समर्पित करते हुए उन्होंने लिखा, "जिनके कृपाकटाक्ष से ग्रंथकार संसार की सभी नारियों में श्री जगदम्बा की शक्ति का विशेष प्रकाश उपलब्ध कर धन्य हुआ है, उन्हीं के चरणों में यह पुस्तक भक्तिपूर्ण हृदय से समर्पित की जाती है।"

स्वामी सारदानन्द कर्मठता की मूर्ति थे। स्वामी त्रिगुणातीतानन्द के अमेरिका जाने पर 'उद्बोधन' पत्रिका के प्रकाशन-सम्पादन का दायित्व भी उन्हींके कन्धों पर आ गया था। पत्रिका के प्रकाशन के मार्ग में अनेक बाधाएँ आयीं पर स्वामीजी पत्रिका को नियमित रूप से निकालते रहे। कुछ समय के बाद पत्रिका का कार्य इतना बढ़ गया कि उसके लिये एक अलग भवन की आवश्यकता महसूस होने लगी। श्रीरामकृष्णदेव की लीलासहधर्मिणी श्री माँ सारदादेवी भी उन दिनों कलकत्ते आकर रहने लगी थीं। उनके लिये भी एक पृथक् भवन की व्यवस्था करना आवश्यक था। सारदानन्दजी ने एक ऐसे मकान का नक्शा तैयार किया जिसके निचले हिस्से में 'उद्बोधन'-कार्यालय

और ऊपरी हिस्से में श्री माँ के निवास की योजना की गयी थी। इस योजना को पूर्ण करने के लिए उन्होंने तत्काल ऋण लेकर मकान बनवाना शुरू कर दिया। निर्माण-कार्य के शुरू होने पर ऋण चुकाने की समस्या भी सामने आयी। इसके लिये उन्होंने 'श्रीश्रीरामकृष्ण लीलाप्रसंग' का लेखन आरम्भ किया। यह ग्रंथ पाँच खण्डों में लिखा जाकर भी अभी अपूर्ण है। यह बंग-साहित्य का कीर्ति-स्तम्भ माना जाता है। सारदानन्दजी को इस ग्रंथ के लेखन का तनिक भी गर्व नहीं था। जब उनसे इस ग्रंथ को पूरा करने का अनुरोध किया जाता तब वे कहते, "ठाकुर ने इस ग्रंथ को लिखाने के लिये मुझे यंत्र बनाया है। यदि ठाकुर ने चाहा तो यह सम्पूर्ण भी हो जायेगा।" इस ग्रंथ की रचना कठिन परिस्थितियों के बीच हुई थी। श्री माँ का दर्शन करने के लिये सदैव भक्तों का पारावार उमड़ता रहता था, किन्तु सारदानन्दजी चुपचाप इस ग्रंथ की रचना में लीन रहा करते थे। सन् १९०८ में उद्बोधन-भवन का निर्माण पूर्ण हुआ। जब सन् १९०९ की मई में श्री माँ ने इस भवन में पदार्पण किया तो सारदानन्द जी अपनी मनोकामना पूरी होते देखकर आनन्द से विह्वल हो उठे। वे श्री माँ में जगदम्बा को साक्षात् मूर्तिमन्त देखते थे।

स्वामीजी में साहसिकता कूट-कूट कर भरी थी। उनके इस गुण का प्रकाशन अनेक अवसरों पर हुआ था। एक बार दो क्रांतिकारी युवक देवव्रत बोस और शचीन्द्रनाथ सेन राजनीतिक जीवन का परित्याग कर रामकृष्ण मिशन

में प्रवेश करने की इच्छा से उनके समीप आये। वे दोनों मानिक-टोला बम-केस के अभियुक्त थे। उन्हें मिशन में सम्मिलित करने का अर्थ शासन के कोप को आमंत्रित करना था। किन्तु उन्हें न लेना कायरता को प्रश्रय देना था। स्वामी सारदानन्द ने केवल इन्हीं व्यक्तियों को मिशन में सम्मिलित नहीं किया अपितु राजनीति की दृष्टि से संदिग्ध अन्य व्यक्तियों को भी मिशन में अपने उत्तरदायित्व पर सम्मिलित कर एक उदाहरण प्रस्तुत किया इसके कुछ दिन बाद एक घटना घटी। शासन ने स्वामी विवेकानन्द जी के साहित्य पर यह आरोप लगाया कि वे क्रांतिकारियों के प्रेरणा-स्रोत हैं। सन् १८०६ में पश्चिम बंगाल के गवर्नर ने श्रीरामकृष्ण मिशन के कार्यों पर संदेह प्रकट करते हुए कहा कि इससे क्रांतिकारियों को प्रेरणा मिलती है। सारदानन्दजी स्वयं गवर्नर से मिले और उनके भ्रम को दूर करने का प्रयास किया।

अनेकानेक उत्तरदायित्वों का वहन करते हुए भी स्वामी सारदानन्द का मन स्थिर और शांत रहा करता था। प्रतिकूल परिस्थितियों से भी उनकी मानसिक प्रशांति भंग नहीं होती थी। वे गीतोक्त 'स्थितप्रज्ञ' पुरुष के यथार्थ उदाहरण थे। उनके जीवन की अनेक घटनाएँ इस बात की पुष्टि करती हैं। एक बार स्वामी सारदानन्द स्वामी विवेकानन्द जी की अस्वस्थता का समाचार पा कर उनसे मिलने रावलपिण्डी से श्रीनगर गये। वे बग्घी में जा रहे थे। रास्ते में एकाएक घोड़ा बिदक गया और पहाड़ की ढाल

की ओर उतरकर भागा। नीचे उतरते ही बग्घी एक पेड़ से टकरायी। स्वामी सारदानन्द बग्घी के रुकते ही बाहर निकल आए। दूसरे ही क्षण पहाड़ से एक चट्टान टूटकर गिरी और घोड़ा उसमें दबकर मर गया। किन्तु स्वामीजी के चेहरे पर अवसाद या दुःख की छाया तक नहीं पड़ी। इसीप्रकार जब वे जहाज से लंदन से वापस लौट रहे थे तब भूमध्यसागर में उनका जहाज तूफान में फँस गया। जहाज के यात्री इधर-उधर भागने और रोने-पीटने लगे। पर स्वामीजी तनिक भी विचलित नहीं हुए। वे शान्तचित्त से प्रकृति के इस दृश्य की ओर निहारते रहे। एक अन्य घटना कलकत्ते में घटी थी। वे गंगा में नाव से जा रहे थे। एकाएक उनकी नाव भँवर में फँस गयी। नाव के अन्य यात्री तो जोर-जोर से छाती पीटने और रोने लगे पर स्वामीजी निश्चिन्त भाव से हुक्का गुड़गुड़ाते बैठे रहे। एक अन्य भक्त उनकी निश्चिन्तता को देखकर विचलित हो उठे और हुक्का छीनकर नदी में फेंक दिया।

स्वामी सारदानन्द जी महान् सेवाभावी थे। उनके इस गुण का-परिचय बाल्यकाल में ही मिलने लगा था। परवर्ती जीवन में तो वे सेवाभाव की मूर्ति ही बन गये थे। सन् १९१३ में बर्दवान जिले में बाढ़-पीड़ितों की सहायता करने के कार्य का उन्होंने सफल संचालन किया था। एक दिन वे आश्रम में बिना किसी को बताये दोपहर को बाहर निकल पड़े। साथ में एक आश्रमवासी भी मना करने पर भी चलने लगा। स्वामीजी एक होटल में घुसे और दूसरी

मंजिल के एक कमरे में पहुँचे। वहाँ एक युवक बीमार पड़ा था। उसे तपेदिक हो गया था। पर वह बड़ा लापरवाह था। बोलते समय उसका थूक इधर-उधर पड़ता जाता था। सारदानन्दजी बड़े प्रेम से उसकी परिचर्या करने लगे। जब वे लौटने लगे तो रोगी ने फल काटकर स्वामीजी को दिया। उन्होंने उसे बिना किसी हिचक के खा लिया। बाहर निकलकर जब आश्रमवासी कार्यकर्त्ता ने चिन्तित होकर उसके दिये हुए फल को खाने से दुःख प्रकट किया तब स्वामीजी ने उसे आश्वस्त करते हुए कहा, "ठाकुर कहा करते थे कि भक्ति और प्रेम से दिये गये आहार को ग्रहण करने में कोई हानि नहीं है।"

स्वामी सारदानन्द की संगठन-क्षमता अद्भुत थी। १८२६ में भारत के विभिन्न स्थानों में कार्यरत संन्यासियों का अधिवेशन बेलुड़-मठ में बुलाया गया था। इसमें मिशन के भावी कार्यक्रम पर विचार किया गया। यद्यपि इस समय सारदानन्दजी अस्वस्थ थे पर उन्होंने इस अधिवेशन में पूरी रुचि दिखायी। अपने भाषण में उन्होंने मठ और मिशन की प्रत्येक स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा कि प्रत्येक आन्दोलन के तीन पक्ष होते हैं-विरोध, स्वीकार और उतार। जब कोई नया आन्दोलन शुरू होता है तब पहले उसका विरोध होता है। जब वह आन्दोलन विरोधों के बावजूद भी टिका रहता है तब जनता उसे स्वीकार कर लेती है। किन्तु इसके बाद एक खतरनाक सोपान आता है। "सुरक्षा के कारण आन्दोलन की शक्ति और सामर्थ्य

क्षीण हो जाती है। जब आन्दोलन का विस्तार होता है तब उसकी तीव्रता कम हो जाती है और उद्देश्य की एकता भी कमजोर हो जाती है।" उनका पूरा वक्तव्य शक्ति और ओज से भरा हुआ था।

परवर्ती काल में गुरुभाइयों एवं श्री माँ सारदादेवी के लीलासंवरण से स्वामीजी को बहुत बड़ा आघात लगा था। वे प्रायः अस्वस्थ रहा करते थे। इसी बीच जयरामवाटी में मातृ-मंदिर के निर्माण की योजना बनी। स्वामीजी अस्वस्थता की चिन्ता न करते हुए पुनः कार्य में जुट गये। वे कहा करते थे कि यह मेरे जीवन का अंतिम कार्य है। सन् १९२३ में मातृ-मंदिर का निर्माण पूर्ण हुआ। इसके पश्चात् स्वामीजी ध्यान-साधना में अधिकाधिक लीन रहने लगे। उनका स्वास्थ्य निरन्तर गिरता जा रहा था।

शनिवार ७ अगस्त १९२७ को सारदानन्दजी प्रातःकाल मंदिर में ध्यान करने गये। किन्तु जल्दी ही उठ आये। फिर वे मंदिर के भीतर गये और लगभग २५ मिनट तक अन्दर रहे। इस प्रकार आने जाने का क्रम बहुत देर तक चलता रहा। अन्त में वे श्री माँ सारदादेवी के पट के सामने खड़े होकर एकटक देखते रहे। उनके मुख पर अमृतमयी प्रशान्ति थी। फिर उन्होंने दिनभर काम-काज में बिताया। सन्ध्या हो चली। मंदिर में आरती के घण्टे बजने लगे। स्वामी जी विचारमग्न बैठे रहे। इसी समय एक कार्यकर्त्ता कुछ कागज लेकर उनके पास पहुँचा। उन्होंने कागज लेकर मेज की दराज में रख दिया। उन्हें सिर में

कुछ दर्द सा प्रतीत हुआ। कार्यकर्त्ता को बिना कुछ बताये दवा लाने के लिये कहकर वे लेट गये। उनकी मूर्छा फिर नहीं टूटी। १६ अगस्त १६२७ को उन्होंने पार्थिव देह का त्याग कर दिया। वे युगावतार के सहचर थे। उनका कार्य करने के लिये उन्होंने देह-धारण किया था। एक बार श्रीरामकृष्णदेव भावावेश में उनकी पीठ पर बैठ गये थे। प्रकृतिस्थ होने पर उन्होंने कहा था, "मैं देख रहा था कि तुम कितना भार सम्हाल सकोगे।" स्वामी सारदानन्दजी अपने अनेकानेक उत्तरदायित्वों का सम्पादन कर श्रीराम-कृष्णदेव की कसौटी में खरे उतरे। उनका मन व्यस्तताओं के बावजूद ईश्वर के चरण कमल में लगा रहता था और वे अन्य लोगों को भी ईश्वरीय कृपा का आश्वासन दिया करते थे।

आपदर्थे धनं रक्षेद् दारान् रक्षेद्धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि॥

आपत्ति के लिए धन की रक्षा करनी चाहिए, धन से स्त्री की रक्षा करनी चाहिए, किन्तु धन और स्त्री दोनों से सदा अपनी रक्षा करनी चाहिए।

— चाणक्य

ब्रह्मचर्य की महत्ता

श्रीमत् स्वामी विमलानन्द जी महाराज, रामकृष्ण मिशन,

(गतांक से आगे)

संन्यासाश्रमः—

संन्यास ब्रह्मचर्य की पराकाष्ठा है। पूर्व मीमांसा और चार्वाक मत के अतिरिक्त भारतीय दार्शनिक विचारधारा के सभी सम्प्रदायों ने आत्मानुशासन की विधि के रूप में संन्यास को मान्यता दी थी। सम्भवतः आरम्भिक सांख्य और योग संप्रदाय इसके प्रवर्तक थे। जैन और बौद्ध मत में इसका विशेष विकास हुआ था। न्याय-वैशेषिक और वेदान्त ने अपने-अपने उद्देश्य की दृष्टि से इसका प्रतिपादन किया था। सभी मतों का यह निष्कर्ष था कि यह विधि व्यक्ति को तत्त्व-साक्षात्कार के योग्य बना सकती है। वैदिक पद्धति को स्वीकार करने के उपरान्त दार्शनिक सम्प्रदायों ने ब्रह्मचर्य के इस विशेष पक्ष पर नये सिरे से जोर देने की आवश्यकता महसूस की। पतञ्जलि ने घोषणा की कि 'ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठा' या दृढ़ ब्रह्मचर्य से ही योग के लक्ष्य को प्राप्त करने की शक्ति मिल सकती है। व्यास ने प्रजनन-शक्ति के पूर्ण निग्रह के रूप में ब्रह्मचर्य की व्याख्या की। श्रीमत् शंकराचार्य द्वारा प्रवर्तित वेदान्त में ब्रह्मचर्य की धारणा को पुष्ट करते हुए उसके आठ क्रमागत सोपानों

का उल्लेख किया गया। इन सोपानों की प्राप्ति निम्न-लिखित क्रियाओं के निरोध से की जा सकती है: दर्शन, संस्पर्श, आलिंगन, संलाप, एकांत भाषण, कामेच्छा, मानसिक संकल्प और यथार्थ कार्य।

जैन धर्म के अन्तर्गत ब्रह्मचर्य को चार आचारविषयक नियमों में से एक माना गया है। इसका पालन अणुव्रती गृहस्थ और महाव्रती श्रमणों को करना पड़ता है। 'तत्वार्थाधिगम सूत्र' में बताया गया है कि "स्त्रीराग-कथाश्रवण-तन्मनोहरांगनिरीक्षण-पूर्वरतानुस्मरण-वृष्येष्टरसास्व-शरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च।" इस सूत्र के अन्त में ब्रह्मचर्य पर आहार और वस्त्र के प्रभाव का उल्लेख किया गया है।

यदि व्यक्ति के मन में संसार और उसकी वस्तुओं के प्रति तनिक भी आसक्ति नहीं है तो वह 'अनुलोमकर्म' होकर या अन्य किसी भी आश्रम से सीधे संन्यास आश्रम में प्रवेश कर सकता है। जो व्यक्ति विवाहित जीवन बिताने के पश्चात् सांसारिक सम्बन्धों के प्रति वीतरागी हो जाता है और संन्यासी बन जाता है उसे भी ब्रह्मचारी माना जाता है। जो सद्गृहस्थ पूर्व आश्रम के लिये निर्दिष्ट ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करता आया है वह स्वयं को संन्यासी जीवन बिताने के योग्य बना लेता है। वह धर्म की सिद्धि के लिये वानप्रस्थ और संन्यास के आदर्शों का पालन करते हुए उच्चतम आध्यात्मिक मूल्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। ऋषियों ने सम्पूर्ण मानवजाति का एक समाज बनाने की महत्त्वाकांक्षा से संन्यास को

सुव्यवस्थित करने का प्रयत्न कभी नहीं किया था। इस-प्रकार का प्रयास पश्चिम में हुआ था। फलतः वहाँ संन्यासियों की अच्छी और बुरी, अहंकारी और विनम्र, धनी और निर्धन, उद्धत और विनयी जैसी श्रेणियाँ प्रचुरमात्रा में हैं। जो धार्मिक संस्था लोकहित के कार्यों का सम्पादन करते हुए अपने अस्तित्व को बनाये रखने का संघर्ष करती है और जिसके कार्यों में निरन्तर वृद्धि हो रही है, वह स्त्री-पुत्रों की झंझट से मुक्त होकर अपने कार्यों को अधिक स्वतन्त्र रूप से कर सकती है। धर्म इससे भिन्न है। वह आत्मिक परिशीलन है। ईसा पूर्व के वर्षों में बौद्ध धर्म के अन्तर्गत असंख्य भिक्षुओं ने दीक्षा ली थी। वह यूरोप के प्रारम्भिक कारथ्यूसनों के समान एक सम्प्रदायबहुल संघ था। बौद्ध धर्म की अनेक शाखाएँ अलग-अलग स्थानों पर स्वतंत्र रूप से और एक-दूसरे से विच्छिन्न होकर कार्य कर रही थीं। वैदिक धर्म इस भ्रम में कभी नहीं पड़ा कि वह सतयुग या पृथ्वी पर स्वर्ग के राज्य की अवतारणा करेगा। यद्यपि वेदों और उसके पूरक ग्रन्थों में कतिपय विशिष्ट व्यक्तियों के स्वेच्छित ब्रह्मचर्य की बड़ी महिमा बताया गई है, किन्तु प्राचीन काल में सामान्य रूप से भली-भाँति बिताये गये गार्हस्थ्य जीवन को महत्तर मूल्यसम्पन्न माना जाता था। इसका कारण यह है कि गार्हस्थ्य जीवन ही समाज की पवित्रता और स्थिरता का एक मात्र हेतु है। जिन महात्माओं ने प्रथम आश्रम से ही स्वेच्छापूर्वक ब्रह्मचर्य को अपना लिया था, वे बाहरी सहायता और सहयोग

की अपेक्षा अपने विमल आदर्श और आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा ही लोकसंग्रह के कार्य में सफल हुए थे। धर्मशास्त्रों में 'मिथ्याश्रमी' का तिरस्कार करते हुए 'अनाश्रमी' की अपेक्षा अधिक कठोर शब्दों का प्रयोग किया गया है। 'शब्दार्थसमन्वय कोश' में बलात् ब्रह्मचर्य की निन्दा करते हुए 'तुरग ब्रह्मचर्य' कहा गया है जिसका काफी प्रचार हुआ। जब इन आश्रमों में पतन के चिन्ह् दिखायी देने लगे तब परवर्ती स्मृतिकारों ने वानप्रस्थ और संन्यास को 'कलि वर्ज्य' (अर्थात् कलियुग में निषिद्ध) कहकर इन्हें सीमित करने का प्रयास किया।

किन्तु विराग की प्रवृत्ति मानव-प्रकृति में ही भिदी हुई है। वह स्वयं को अभिव्यक्त करना चाहती है। आवश्यक परिस्थितियों के उपलब्ध होने पर प्रत्येक व्यक्ति स्वभावतः पूर्णता प्राप्त करने की चेष्टा करता है। आध्यात्मिक जिज्ञासा पूर्ण बनने की भूख है। वह एक लाक्षणिक प्रवृत्ति है जिसका जन्म ईश्वरीय व्याकुलता से होता है, जब मनुष्य चेतना के जैविक और सामाजिक धरातल पर ही संतुष्ट नहीं हो पाता। जो लोग धार्मिक रूप से पर्याप्त गम्भीर होते हैं, जा मन-प्राण से ध्यान में डूब जाना चाहते हैं और जो एकान्त प्राप्त करने के लिये छटपटाते रहते हैं वे व्यक्ति ब्रह्मचर्य को लक्ष्यप्राप्ति का एकमात्र साधन समझते हैं। ऐसे मुमुक्षु जन भीड़-भाड़ को जेलखाना समझते हैं और एकान्त में साक्षात् स्वर्ग के दर्शन करते हैं। संन्यास की मूलप्रेरणा को समझाते हुए शंकराचार्य ने एक प्यासे व्यक्ति का उदाहरण दिया है

जो मृगतृष्णा को जल समझ कर उसकी ओर जाता है। जब वह यह जान लेता है कि वहाँ जल नहीं है तब वह अपना प्रयास छोड़ देता है: "न हि मृगतृष्णिकायां उदकबुद्ध्या पानाय प्रवृत्तः उदकाभावज्ञानेऽपि तत्रैव प्रवर्तते।" (गीता, ५, भाष्य)। आभास के मूल में निहित सत्य को जानने की इच्छा तब प्रौढ़ होती है जब व्यक्ति अपने जीवन के किसी पूर्वाश्रम में पहले से ही इसकी तैयारी कर चुका होता है और स्वभाविक रूप से विकास करता है। यही संन्यास का मूल आकर्षण है। गृहस्थ-जीवन के श्रम और कष्ट के भय से संन्यास ग्रहण नहीं किया जाता। यद्यपि ऐसे महान् व्यक्ति बिरले ही होते हैं किन्तु इससे इस सिद्धान्त की धारणा असत्य सिद्ध नहीं होती है।

ब्रह्मचर्य के कुछ पश्चिमी आदर्श:

उपर्युक्त विवरण में उस आदर्श योजना की रूपरेखा प्रस्तुत की गयी थी जिसका निर्माण ऋषियों ने धर्म को केन्द्र में रखकर किया था ताकि मनुष्य को जीवन की व्यवस्थाओं और कर्त्तव्यों के मार्ग से चरमलक्ष्य तक उन्नयित किया जा सके। ये महत्तर आदर्श शताब्दियों से उन असंख्यों प्राणियों का मार्गदर्शन करते रहे हैं जो उच्चतर जीवन की प्राप्ति के लिये संघर्ष करते रहे हैं। जब हम इस योजना की गुरुता पर विचार करते हैं तब हमें ऐसा प्रतीत होता है कि आज हम इससे बिलकुल उलटी स्थिति में हैं। हम इस पुरानी व्यवस्था को पुनः प्रारम्भ

करने की बात सपने में भी नहीं सोच पाके। आज सामाजिक और आर्थिक शक्तियों के द्वारा एक ऐसी परिस्थिति का निर्माण हुआ है जो प्राचीन विश्वास के हृदय पर ही कुठाराघात कर रही है। ऐसे समय में यदि हम प्राचीन धर्म से कुछ प्रेरणा प्राप्त कर सकें तो वही बहुत है। विज्ञान और तांत्रिकी हमें असंयत जीवन की शारीरिक व्याधियों से कुछ समय के लिये मुक्त होने की शक्ति प्रदान कर सकते हैं। वे हमें मनोरंजन की नयी विधियाँ प्रदान कर सकते हैं किन्तु वे राष्ट्र के नैतिक कल्याण का नियमन नहीं कर सकते। यदि आन्तरिक भ्रष्टता को न रोका गया तो सभी बाहरी वैभव बादलों के समान विलीन हो जाएँगे। पश्चिम ने हमें विज्ञान और तांत्रिकी का उपहार दिया है। किन्तु वह इस तथ्य से अपरिचित नहीं है कि उसके ऊपर अनात्मिक भौतिकवाद की काली छाया मँडरा रही है। भले ही हममें से कुछ ऐसे लोग इस तथ्य से परिचित न हों जो पाश्चात्य उपलब्धियों की शतमुखी प्रशंसा करते हैं। इसकी व्याख्या के लिये कुछ उद्धरणों की अवतारणा की जा सकती है। निम्नांकित अवतरण न्यूयार्क के मैकफेडन फाउण्डेशन द्वारा प्रकाशित और बनाई मैकफेडन तथा अन्य स्वास्थविदों द्वारा लिखित 'ए प्रेजेन्टेशन ऑव माडर्न मैथड्स ऑव हेल्थ बिल्डिग' नामक ग्रंथ से उद्धृत किया जा रहा है:

"ब्रह्मचर्य हानिप्रद है या नहीं?—यह एक ऐसा प्रश्न है जिसपर काफी विचार किया गया है और परस्पर विरोधी मत प्रदिपादित किये गये हैं। यह बात इस तथ्य पर पूरी

तरह से आधारित है कि व्यक्ति यौन-उत्तेजना रहित अपेक्षाकृत मुक्त जीवन बिता सकता है या नहीं। यदि व्यक्ति की यौन-प्रवृति बहुत प्रबल है तो उसका निरन्तर निग्रह एक कठिन कार्य है तथा इससे व्यक्ति के सामान्य स्वास्थ्य पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। यौन-उत्तेजना से बचने के लिये केवल शारीरिक सम्पर्क का अभाव ही आवश्यक नहीं है। कामुक विचार भी उतनी ही हानि कर सकते हैं। यदि यौन-केन्द्रों को उत्तेजित करने की मानसिक रूप से आदत पड़ जाय तो उसका बड़ा स्थायी और घातक प्रभाव पड़ता है। मन की यह उत्तेजक स्थिति यौन-केन्द्रों को सतत उत्तेजित करती रहती है और कामांगों में रक्तसंकुलता बनाए रखती है। इस आदत को व्याख्या 'मानसिक हस्तमैथुन' नामक शब्द से की जा सकती है। इसका परिणाम यह होता है कि कुछ समय के बाद यह केन्द्र शिथिल हो जाता है और व्यक्ति विचारमात्र से ही स्खलित हो जाता है। यह शरीर पर बड़ा विघातक प्रभाव डालता है। व्यक्ति के वीर्य का नाश हो जाता है, उसकी आयु घट जाती है और उसका शरीर शक्तिहीन हो जाता है। यह शारीरिक व्यवस्था के लिये सबसे बड़ा विष है। कुछ लोग शराब को कामोत्तेजक समझते हैं, किन्तु अन्ततः प्रजोत्पत्ति पर इससे अधिक घातक प्रभाव किसी अन्य वस्तु का नहीं पड़ता। इस बात में कोई संदेह नहीं है कि शराब का उत्तेजक गुण केवल आभास मात्र है। यह हमारी उस नैतिक भावना और नैसर्गिक संयम को शिथिल कर देती है जिसकी

अनुभूति हम नैतिक और अच्छी परिस्थितियों में करते हैं। शराब के नशे से व्यक्ति का आचार-विचार और उसकी विनम्रता कुण्ठित हो जाती है। इस बात में कोई संदेह नहीं है कि केवल इसी प्रभाव के कारण शराब को उत्तेजक समझा जाता है।... 'वयस्क होने के पहले यौवन की मूर्ख-ताओं में पड़ना' एक ऐसी कहावत है जिसे जघन्य कोटि की अनैतिकता के लिये प्रयुक्त किया जाता है। इस अनै-तिकता का बीजारोपण पहले प्रच्छन्न चेष्टाओं के द्वारा होता है। तदनन्तर वेश्याओं की संगति में इसका विकास होता है। इस दौरान उसे अत्यन्त घृणित प्रकार के रोग लग जाते हैं। इस अनैतिकता का अन्त विवाह में होता है। किन्तु यह याद रखना चाहिये कि अनेक परिस्थितियों में विवाह ही इसका निदान नहीं होता। बल्कि यहाँ से कुकर्मों के फलों का भोग अधिक तेजी से शुरू हो जाता है। इस बात के लिये कोई तर्क नहीं दिया जा सकता कि किशोरों के मन को शिष्टता के सिद्धान्तों से क्यों न भरा जाय। युवावस्था की इस भ्रष्टता का सबसे घातक प्रभाव यह होता है कि व्यक्ति अपने कार्यों के अनिवार्य फल के रूप में यौन-रोगों का शिकार हो जाता है। वयस्क होने के पहले ही जो लोग यौवन की मूर्खता में पड़ते हैं उनमें से बिरले ही बीमारियों के चंगुल से बच निकलते हैं। यह हमारे युग की शायद सबसे बड़ी खतरनाक समस्या है। हम इस दुर्वृत्ति के दुष्परिणामों की भयानकता से युवकों को परिचित करा सकते हैं। किन्तु जब तक हमारा परम्परागत

नियम इसप्रकार नहीं बदल जाता जिसमें युवकों को इच्छानुसार युवतियों से मिलने का अवसर मिलता रहे, तबतक हम इस दुष्प्रवृत्ति के दुष्परिणाम उन्हें कितने ही स्पष्ट रूप से क्यों न समझाएँ पर वह निष्फल होगा। आप पुरुष को स्त्री से दूर नहीं रख सकते। यदि वे अच्छी स्त्रियों से नहीं मिल सकेंगे तो वे बुरी स्त्रियों की संगति प्राप्त कर लेंगे। इस सामाजिक बुराई के निवारण की दृष्टि से इसका एक अन्य पक्ष भी विशेषरूप से उल्लेखनीय है। वह यह कि यौन-शैथिल्य का शराब और धूम्रपान की आदत से घनिष्ठ सम्बन्ध है। आरम्भ में सामान्य युवक यह समझ नहीं पाता कि ये आदतें उसे कहाँ ले जायेंगी। जहाँ तक शराब और धूम्रपानका सम्बन्ध है, यह सच है कि शराब ही यौन-अनाचार की दिशा में युवक के क़दमों को कुपथ की ओर बढ़ाती है और वही इसके लिये सर्वाधिक उत्तरदायी है। किन्तु इसका एक कारण तम्बाखू भी है क्योंकि इसीसे इस दुष्प्रवृत्ति का आरम्भ होता है और यही विवेक और नैतिक बुद्धि को कुण्ठित करने में व्यक्ति की सहायता करता है। यह एक सामान्य बात है कि जो लड़का धूम्रपान करता है वह शराब भी पियेगा। यदि वह आरम्भ में शराब नहीं पीता तो वह शीघ्र ऐसा करना शुरू कर देगा और सम्भवतः इस भावना के साथ कि एक या दो बार पी लेने से कोई नुकसान नहीं। यह बात निरपवाद रूप से कही जा सकती है कि जैसे ही युवक अधिकाधिक शराब पीने लगता है वैसे ही उसके कार्यक्रम में स्त्री भी

शामिल हो जाती है। उसे इस कार्य से गर्व की अनुभूति होती है। वह सोचता है कि वह अब सचमुच में मर्द बन सका है। ये सभी बातें साथ-साथ चलती हैं।" (खंड-२, पृष्ठ १०५६)।

न्यूयार्क के रॉकफेलर इंस्टीटयूट आँव मेडिकल रिसर्च के औषधि विज्ञान के नोबल-पुरस्कार विजेता डॉ० एलेक्सिस कैरेल इस सम्बन्ध में निम्नलिखित जानकारी देते हैं: "यह भली-भाँति विदित है कि यौन-दुराचार बुद्धि के लिये घातक है। बौद्धिक शक्ति के परिपूर्ण विकास के लिये यह आवश्यक है कि यौन-ग्रंथियाँ सुविकसित हों और कामेच्छा का सामयिक नियंत्रण हो। फ्रायड ने चेतना के कार्यों के संदर्भ में यौन-प्रेरणाओं के केन्द्रीय महत्त्व की उचित व्याख्या की है। पर उसके निष्कर्ष प्रमुखतः रुग्ण व्यक्तियों से सम्बन्धित थे। उसके निष्कर्षों को सामान्य व्यक्तियों पर और विशेष रूप से उन व्यक्तियों पर लागू नहीं करना चाहिये जिनका स्नायु-संस्थान बड़ा सबल है और जो स्वयं पर अधिकार रखते हैं। जहाँ कामेच्छा के दमन से स्नायविक रूप से दुर्बल और असंतुलित व्यक्ति अधिकाधिक असामान्य हो जाते हैं वहाँ इसप्रकार के दमन से सबल व्यक्ति और भी सबल हो जाते हैं'।" (मैन दि अननोन, पृष्ठ १३७-८)।

निष्कर्ष:—

चाहे पुराने नियमों के अनुसार परीक्षा की जाय या

नये नियमों के अनुसार, किन्तु जितेन्द्रिय जीवन और पवित्र विचार ही मनुष्य को आनन्द प्रदान कर सकते हैं। स्वास्थ्य और शारीरिक गठन का प्रश्न व्यक्ति और देश के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रच्छन्न दुराचारी व्यक्ति अच्छा पति नहीं बन सकता। स्त्री को भी अपने पति से उसी निर्मल चरित्र की अपेक्षा करने का अधिकार है जिसकी अपेक्षा पति अपनी पत्नी से करता है। पति युवावस्था में जिन अनाचारों में फँसता है, उसके दुष्परिणाम उसकी स्त्रियों और बच्चों को भोगने पड़ते हैं। स्त्री और पुरुष दोनों से शिशु के वंशानुक्रम का निर्माण होता है और दोनों शारीरिक दृष्टि से असाध्य अभावों से ग्रस्त बालक को संसार में भेजने के जिम्मेदार होते हैं। यौन-अनाचार का परिणाम सबको भुगतना पड़ता है किन्तु बिरले ही लोगों में इतना साहस होता है कि वे इसके कारण को दूर कर इस भयानक परिस्थिति पर विजय प्राप्त करें। इस प्रवृत्ति का परिमार्जन करने के लिये हमें गम्भीर रूप से सतर्क रहना आवश्यक है ताकि हमारा जीवन उदात्त धरातल पर प्रतिष्ठित हो सके और विषाक्त नैतिकता से विकसित होने वाली पीढ़ी के जीवन की रक्षा की जा सके। इसके लिये आदर्शों के निरन्तर प्रचार करते रहना जरूरी है और सुयोग्य एवं प्रबुद्ध कार्यकर्त्ताओं को इस दिशा में सहानुभूतिपूर्वक अत्यधिक प्रयत्न करना होगा। जबतक सभी संस्थाएँ पूरी तरह से संगठित होकर बढ़ने वाली पीढ़ी और जनता के विचारों का परिष्कार नहीं करतीं और

युवकों और देश के विचारों पर उचित प्रभाव डालने का प्रयत्न नहीं करतीं तब तक उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता। इस कार्य में बाधाएँ भी अनेक हैं।

सबसे पहिली बाधा यह है कि हमारी शिक्षा - संस्थाएँ नैतिकता या मानव-जीवन के अर्थ की सही धारणा प्रदान नहीं करतीं। कभी-कभी तो वहाँ का वातावरण और परिवेश ही विद्यार्थियों के नैतिक बोध को नष्ट कर देता है। वे यह सोच ही नहीं पाते कि वे वहाँ परीक्षा उत्तीर्ण करने के अतिरिक्त और भी किसी प्रयोजन से आये हैं। वे परीक्षा उत्तीर्ण करके ऊँची नौकरी पाना चाहते हैं, अधिकाधिक धन कमाना चाहते हैं, अनेक प्रकार के भोगों को भोगना चाहते हैं और अपने सामाजिक स्तर को कृत्रिम और दिखावटी स्तर तक ऊँचा उठाना चाहते हैं। भोग-विलास की तृष्णा को बढ़ाने में सर्वव्यापी चलचित्रों और सतही सस्ती राजनीतिक नेतागिरी का भी हाथ है। व्यावसायिक लेखकों ने प्रभावशाली साहित्य के व्यापक क्षेत्रों को विषाक्त बना दिया है। फलतः जो नैतिक और आध्यात्मिक धारणाएँ प्राचीन ग्रंथों में लिपिबद्ध हैं, जिनकी पीढ़ी-दर-पीढ़ी परीक्षा होती रही है और जो मानवीय निर्देश के लिये लाभकारी सिद्ध हुई हैं, वे सब या तो युवकों के मन से निकाल दी गयी हैं या उनके प्रति उनके मन में संदेह भर दिया गया है। चलचित्रों और असंयत विज्ञापनों के द्वारा गर्भ - निरोध के सूक्ष्म और व्यापक प्रसार से युवकों के मन से यह सम्भावना नष्ट हो गयी है कि कामेच्छा का

दमन भी सम्भव और आवश्यक हो सकता है। व्यावसायिक शिक्षा, घर में उचित देखभाल का अभाव, शाला की अनुशासनहीनता, दूषित मनोरंजन और चरित्रहीनता फैलाने वाले नाटकों से अश्रद्धा का भाव पैदा हो गया है जिससे गम्भीर और पवित्र विषयों का भी मखौल उड़ाया जाने लगा है। यह आधुनिक समाज का अभिशाप है। कला के पवित्र नाम की ओट में या 'वैज्ञानिक साहित्य' के छद्म नाम से जिस कामोत्तेजक साहित्य का निर्बन्ध प्रकाशन हो रहा है वह आग पर तेल छिड़कने का काम कर रहा है। इससे परम्परागत मान्यताओं के प्रति वितृष्णा का भाव बढ़ गया है, लोग अकर्मण्यता में ही रस लेने लगे हैं और वे ऐसे कार्यों को करने के लिये प्रस्तुत नहीं हो रहे हैं जिससे तात्कालिक आनन्द या लाभ की प्राप्ति नहीं होती। आज लोग कुछ ऐसे व्यक्तियों को विशिष्ट क्षेत्र के विशेषज्ञ के रूप में सम्मान देने लगे हैं जिनमें किसी भी प्रकार का दृष्टिकोण नहीं होता और जिनमें नियंत्रण और वैयक्तिक रुचि का एकांत अभाव होता है। ऐसे लोगों की शिक्षा ब्रह्मचर्य के सरल से सरल रूप को भी असामाजिक, अपूर्ण, अप्राकृतिक और त्रुटिपूर्ण जीवन-आदर्श बताती है। इससे महान् क्षति हो रही है। यह सामाजिक विप्लव का चिह्न है। जो देश के नैतिक और आध्यात्मिक कल्याण के अपेक्षी हैं उनका यह परम कर्त्तव्य है कि वे देश को खोखला बनाने वाले कीटाणुओं के विरुद्ध संघर्ष करें और निरन्तर स्वस्थ विचारों का प्रसार करते रहें। वैयक्तिक

एवं राष्ट्रीय पवित्रता से पूर्ण और नैतिक साहस से ओत-प्रोत शक्तिशाली साहित्य के माध्यम से ही यह कार्य सम्पन्न हो सकता है। भारत जो स्वयं को मानवजाति के लिए शान्ति और आनन्द का प्रदाता समझकर गर्व करता है और कभी-कभी दूसरों को अविश्वास करने का अवसर भी देता रहता है, यदि वह स्वयं के लिये अविचलित पवित्रता का आदर्श स्थापित करने में असफल हो गया तो यह एक दयनीय बात होगी।

(समाप्त)

('प्रबुद्ध भारत' से साभार)

शास्त्र पढ़कर भी लोग मूर्ख होते हैं, किन्तु जो उसके अनुसार आचरण करता है वस्तुतः वही विद्वान् है। रोगियों के लिए भलीभाँति सोचकर निश्चित की हुई औषधि नाम उच्चारण करने मात्र से (बिना खिलाये) किसी को निरोग नहीं कर सकती।

— हितोपदेश

मानव-वाटिका के सुरक्षित पुष्प

श्री शरद् चन्द्र पेंढ़ारकर, रायपुर

"तर्कशास्त्र" का प्रादुर्भाव

महर्षि उतुथ्य मृगार्जिन पर बैठे वेदों का उच्चार करते हुए सामने स्थिति हवनकुन्ड में घी डाल रहे थे कि एक हिरन भागता हुआ वहाँ आया और उनकी कुटिया में जा घुसा। थोड़ी ही देर में एक शेर वहाँ आया और उसने महर्षि से पूछा, "गुरुदेव, क्या आपने मेरे शिकार को यहाँ से जाते हुए देखा है ?"

महर्षि उतुथ्य बड़े ही असमंजस में पड़ गये। वे सत्य-वादी थे, तथा उन्होंने असत्य वचन कभी भी न कहे थे। आज उनके सामने एक विकट समस्या उपस्थित हो गयी। असत्य बोलना उनकी दृष्टि में महान अपराध था और सत्य बोलने से शरण में आये एक निर्दोष प्राणी को जानते हुए उसके भक्षक को सौंपने से उनके द्वारा महापातकी कर्म होने वाला था। उनकी समझ में ही न आया कि वे उसे क्या जवाब दें ? उस शेर ने पुनः प्रश्न किया, "गुरुवर ! आप मुझे वह हिरन किस दिशा की ओर गया है, यही दिखादें तो मैं आपके प्रति कृतज्ञ रहूँगा।"

सहसा महर्षि के मुख से निम्न उद्गार निकले—"हे वनराज ! मैं तुझे कैसे और किस तरह दिखाऊँ ? क्योंकि देखने का कार्य आँखें करती हैं, जबकि बोलने का कार्य मुख

द्वारा होता है। आँखें बोल नहीं सकतीं और मुख देख नहीं सकता। तू बोलने वाली इन्द्रिय से प्रश्न कर रहा है कि क्या उसने तेरा शिकार देखा है ? जो देख नहीं सकता, वह इसका क्या जवाब दे सकता है? इसी तरह जिसने देखा है, वह भला बोल कैसे सकता है ? ऐसी परिस्थिति में तेरे प्रश्न का जवाब देने में मैं असमर्थ हूँ।"

उस शेर को अपने शिकार का सही-सही ठौर-ठिकाना न मालूम होने से वह तो लौट गया, किन्तु महर्षि के मुख से निकले शब्दों से एक नये शास्त्र का प्रादुर्भाव हुआ, जिसका नाम है—"तर्कशास्त्र"।

दयालुता का प्रभाव

तेरहवीं शताब्दी में भारत में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा था। उन दिनों गोलकुन्डा-बेदरशाही के अन्तर्गत मंगलबेड़ा प्रांत का कारोबार संत दामाजी के जिम्मे था। वे तथा उनकी पत्नी, दोनों भगवद्भक्त होने के अलावा दयालु भी थे। क्षुधा से त्रस्त प्रजा का करुण क्रन्दन तथा पशु-पक्षियों का आर्त चीत्कार उनसे न सुना गया। राज्य-भंडार में अनाज विपुल मात्रा में भरा पड़ा था। उन्होंने बादशाह की अनुमति लिये बिना ही अन्न-भंडार के द्वार प्रजा के लिए खोल दिये। इससे क्षुधा से पीड़ित सहस्रों लोगों को राहत मिली।

संत दामाजी के सहायक नायब सूबेदार से यह न देखा गया। उसने सोचा कि अवसर अच्छा है। बादशाह को खबर करने से पदोन्नति हो सकती है। उसने तुरंत

बादशाह को पत्र लिखकर सूचित किया कि दामाजी ने उनकी अनुमति के बगैर अपनी कीर्ति के लिए सारा अनाज लुच्चे-लफंगों को लुटा डाला है।

पत्र पढ़ते ही बादशाह आग-बबूला हो गया। उसने सिपाहियों को दामाजी को पकड़ कर लाने की आज्ञा दी। वे सिपाही दामाजी के पास पहुँचे भी न थे कि इधर एक चमत्कार हो गया। किशोरावस्था का एक ग्रामीण जिसके हाथ में एक थैली थी तथा कंधे पर कंबल था, निर्भीकता पूर्वक दरबार में आया। उसने बादशाह को प्रणाम कर कहा, "बादशाह सलामत, यह सेवक मंगलवेड़ा से अपने स्वामी दामाजीपंत के पास से आया है।"

बादशाह उसके तेजस्वी रूप तथा मधुर वाणी से बेहद प्रभावित हुआ। उसने उसका नाम तथा आने का उद्देश्य पूछा। उस ग्रामीण ने जवाब दिया, "दामाजीपंत के अन्न से पला मैं एक चमार हूँ। मेरा नाम 'विठू' है। सरकार, मेरे स्वामी को आप क्षमा करें। आपकी प्यारी प्रजा भूख से मर रही थी, उनसे यह न देखा गया और आपकी अनुमति लेने में विलंब होता, अतः उन्होंने भंडार का गल्ला बाँटकर सबके प्राण बचाये। मैं उस गल्ले का मूल्य चुकाने आया हूँ। कृपया उसे सरकारी खजाने में जमा करें।"

यह सुन बादशाह को बड़ा ही पश्चात्ताप हुआ कि उन्होंने व्यर्थ ही एक बेकसूर को बंदी करने की आज्ञा दी। खजांची ने ज्यों ही उसकी थैली उँड़ेली, वह पुनः भर गई। उसने पुनः उँडेली, वह फिर भर गई। इस तरह दो-तीन

बार हुआ। आखिर उसने अनाज की पूरी कीमत गिनकर शेष रुपये उस ग्रामीण को लौटा दिये।

उसके जा चुकने पर खजांची ने वह चमत्कार बादशाह को बताया। बादशाह से न रहा गया। वह 'बिठू' के दर्शन के लिए उतावला हो गया। वह तुरंत उसके दर्शन के लिए मंगलवेढ़ा के लिए रवाना हुआ। वहाँ पहुँचने पर उसने दामाजी से 'विठू' को बुलाने के लिए कहा। दामाजीकी समझ में कुछ भी न आया। तब बादशाह ने पूरा किस्सा सुनाया। दामाजी ने बादशाह से कहा कि वे बड़े ही भाग्यवान है, जो स्वयं भगवान् ने उन्हें दर्शन दिये।

देह रहते हुए 'विदेही' क्यों ?

महाराजा जनक के एक मंत्री ने एक दिन उनसे पूछा, "महाराज ! आप देहधारी होकर भी 'विदेही' क्यों कहे जाते हैं ? "जनक ने उत्तर दिया कि वे इसका जवाब कुछ दिनों के पश्चात् देंगे।

एक दिन राजा ने एक दूत को प्रातः बुलाकर उससे कहा—"जाओ, शहर में ढिंढारा पीट आओ कि मंत्री के हाथों अपराध होने के कारण उसे ४ बजे शाम को सूली दी जायगी।" साथ ही मंत्री को उसी दिन सुबह १० बजे भोजन का निमंत्रण दिया।

मन्त्री नियम समय भोजन के लिए पहुँचा। राजा ने नाना प्रकार के पदार्थ बनवाये थे, किंतु उसमें जान बूझकर नमक बिलकुल न डाला था। मन्त्री का ध्यान सूली की तरफ

था। उससे वे सारे पदार्थ खाये नहीं जा रहे थे, किंतु बेचारा मजबूर था। भोजन के पश्चात् महाराजा जनक ने उससे प्रश्न किया, "मंत्रीजी, किसी चीज में नमक की कमी तो न थी।" मंत्री ने डरते हुए जवाब दिया, "महाराज, मौत के भय के कारण मुझे भोजन का कुछ भी स्वाद मालूम न हुआ। मैं यह न समझ सका कि कौनसी चीज़ मीठी थी, कौनसी खट्टी थी और कौन सी फीकी थी।"

तब राजा जनक ने कहा — "मंत्रीजी, भोजन करते समय आपको मालूम हो गया था कि कुछ ही घंटों में आपको सूली दी जाने वाली है अतः आप देह के होते हुए भी 'विदेही' हो गये थे। फिर मैं तो अपनी देह के अस्तित्व पर क्षण भर के लिए भी विश्वास नहीं करता। इसलिए यदि लोग मुझे 'विदेही' कहें, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।"

कटु वाक्य

एक बार पैगंबर मुहम्मद साहब तथा उनके दामाद हज़रत अली साथ-साथ जा रहे थे कि रास्ते में एक आदमी मिला, जिसकी हज़रत अली से पुरानी दुश्मनी थी। वह हज़रत अली को देखते ही गालियाँ देने लगा। कुछ देर तक तो हज़रत अली उसके दुर्वाक्यों को सुनता रहा, किंतु पश्चात् उसने भी उसे गालियाँ देना शुरू किया। यह देख मुहम्मद साहब आगे बढ़ गये। हज़रत अली ने देखा कि वे आगे निकल गये हैं, अतः वह भी झगड़ना छोड़कर उनके

पास जा पहुँचा। उसने उनसे कहा, "आप मुझे उस दुष्ट के पंजे में अकेले छोड़कर कैसे चले गये?" मुहम्मद साहब ने जवाब दिया, "सुनो अली, जब वह तुम्हें गालियाँ दे रहा था और तुम चुप थे, तो मैंने देखा कि दस फरिश्ते तुम्हारी रक्षा कर रहे थे और उसका जवाब देते थे। किंतु जब तुम भी गालियों पर उतर आये, तो वे सब फरिश्ते एक-एक कर हट आये, फिर भला मैं क्यों ठहरता? याद रखो, मनसा-वाचा-कर्मणा किसी के भी चित्त को दुख नहीं देना चाहिए।

उजड़े गाँवों की क्या कमी?

महमूद गज़नवी जिस प्रदेश को अपने कब्जे में करता, उसे लूटता तथा घरों में आग लगाकर गाँवों को उजाड़ बना डालता। उसे इसमें ही आनंद प्राप्त होता था। उसका एक चतुर मंत्री था। उसे महमूद का यह क्रूर कर्म बिलकुल पसंद न था, किंतु वह मजबूर था। एक दिन उसने महमूद से कहा कि पीरबाबा की कृपा से उसे पशु-पक्षियों की भाषा समझ में आती है।

एकबार वे दोनों शिकार करने जंगल से जा रहे थे कि उन्हें एक वृक्ष पर दो उल्लू बैठे हुए दिखाई दिये, जो मुख से 'घू' 'घू' आवाज निकाल रहे थे। वह मंत्री रुक गया और वहीं जाकर खड़ा हो गया। महमूद को मंत्री की बात याद आ गई। उसने उससे प्रश्न किया कि वे दोनों

उल्लू क्या कह रहे हैं ? इसपर वह मंत्री बोला, "हुजूर, उनका संभाषण आपके बताने योग्य नहीं है। आप नाराज हो जाएँगे।" महमूद द्वारा क्षमा का आश्वासन पाकर वह चतुर मंत्री बोला, "हुजूर, ये दोनों उल्लू समधी होने जा रहे हैं। वर का पिता, वधू के पिता से दहेज के रूप में पचास उजड़े गाँव माँग रहा था। इसपर वधू पिता बोला कि जबतक महमूद का राज्य कायम है, पचास क्या पाँच सौ उजड़े गाँव वह दहेज में दे सकता है।"

महमूद को मंत्री का व्यंग्यार्थ मालूम हो गया। वह उससे बोला, "आज से महमूद किसी भी गाँव को उजाड़ेगा नहीं।"

दूध और खून

गुरु नानक लोगों को उपदेश देते हुए एक गाँव में पहुँचे। वहाँ वे एक गरीब बढ़ई के घर पर ठहरे। उसका नाम 'लालो' था। उसी गाँव में एक धनाढ्य व्यक्ति रहता था, जिसका नाम 'मलिक भागो' था। उसने एक दिन गाँव के सारे लोगों को भोजन के लिए निमंत्रित किया। सारे लोग खा चुकने पर उसने नौकरों से पूछा कि कहीं कोई आदमी गाँव में उसके यहाँ बिना खाये रहा तो नहीं है ? इसपर नौकरों ने बताया कि लालो के घर में एक साधू आया है जो भोजन से वंचित रहा है। भागो ने गुरु नानक को बुलाया तथा उनसे पूछा, "आप मेरे यहाँ भोजन करने क्यों नहीं आये ?" गुरु नानक ने कहा, "अब आया हूँ।"

नौकरों ने उनके सामने तरह-तरह के पक्वान्न लाकर रखे। तब गुरु नानक ने लालो से घर से भोजन लाने को कहा।

लालो घर गया और उसने घर से रोटियाँ लाईं। गुरु नानक ने भागो की एक रोटी लेकर उसे दबाया, तब उसमें से खून निकलने लगा। फिर उन्होंने लालोकी रोटी दबाई, तो उसमें से दूध निकलने लगा। यह देख वहाँ उपस्थित लोग चकित हो गये। तब नानक जी ने बताया — "भागो ने गरीबों को लूटा है, इसलिए उसकी रोटी में गरीबों का खून है, जबकि लालो की कमाई ईमानदारी की है, फलस्वरूप उसकी रोटी से दूध निकला।"

यह सुन भागो नानक के चरणों पर गिर पड़ा और उनसे क्षमा माँगकर कहने लगा कि आगे से वह मेहनत की कमाई खाएगा तथा दूसरों को कष्ट न देगा।

सभ्यता और शिष्टाचार

एक बार फ्रांस का राजा चतुर्थ हेनरी अपने शरीर-रक्षक के साथ पेरिस की आम सड़क से जा रहा था कि एक भिखारी ने अपने सिर का हैट उतारकर उसे अभिवादन किया। प्रत्युत्तर में हेन्री ने भी अपना सिर झुकाया। यह देख वह शरीर रक्षक हेन्री से बोला, "महाराज, आप सरीखे सम्राट् का एक तुच्छ भिखारी को अभिवादन करना शोभा नहीं देता।"

"शोभा देता है या नहीं, यह तो तुम लोगों के सोचने की बात है, मेरे नहीं", राजा आगे बोला, "यदि मैंने उसे

अभिवादन न किया होता, तो मेरे अंतरतम की मनुष्यता मुझे कोसती रहती कि है तो तू फ्रांस का सम्राट्, किंतु तुझमें एक भिखारी के जितनी भी सभ्यता और शिष्टाचार नहीं !"

सुलह

घटना उस वक्त की है, जब अब्राहम लिंकन वकील थे। उसवक्त उनका काफी बोलबाला था। एकबार दो भाइयों में घर के बँटवारे के संबंध में विवाद उपस्थित हुआ और दोनों ने न्यायालय द्वारा निपटारा कराना उचित समझा। उनमें से एक भाई लिंकन के पास आया तथा उसने लिंकन से उसकी ओर से मामला लड़ने का अनुरोध किया। लिंकन ने न्यायालय की दोष हानि बताकर आपस में समझौता करने की सलाह दी, किंतु वह न माना। वे उसे बैठने को कहकर बाहर आये। जैसा कि उनका अनुमान था, दूसरा भाई भी थोड़ी ही देर में वहाँ आया। लिंकन ने उसे भी समझौता करने की सलाह दी, पर वह भी इस बात पर राजी न हुआ। उन्होंने उसे अंदर कमरे में बैठने के लिए कहा और बाहर से संकल लगा दी।

दो घंटे के पश्चात् उन्होंने जब दरवाजा खोला, तो उन दोनों में सुलह हो चुकी थी। वे दोनों हँसते - हँसते वापस घर गये।

युगात्मा महावीर

(महावीर जयन्ती के दिन आकाशवाणी पर डा० नरेन्द्र देव वर्मा द्वारा प्रदत्त भाषण ।)

भारतीय संस्कृति का यह परम सौभाग्य रहा है कि जब जब उसके सौभाग्य-सूर्य को विपदाओं के काले बादल ढाँकते हैं, जब जब उसके जीवनाकाश को संघर्ष के तूफान धुँधला करते हैं तभी इन विपदाओं के बादलों को चीरते हुए एक आलोक-केन्द्र का उदय होता है। भारतीय इतिहास ऐसे अनेकों आलोक-केन्द्रों के उदय की धारावाहिक कथा है। भारतीय संस्कृति समन्वयमूला रही है। वह प्रवृत्ति और निवृत्ति को परस्पर विरोधी न समझकर एक दूसरे की परिपूरक समझती है। भारतीय संस्कृति का मूलाधार एक ऐसा जीवन है जिसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति समातुलित और समान रूप से विकसित हों। अभ्युदय और निःश्रेयस की यह समग्रमूला धारणा भारतीय संस्कृति का प्राणकेन्द्र है। इतिहास के पृष्ठ हमें सिखाते हैं कि जब जब प्रवृत्ति और निवृत्ति का सन्तुलन बिगड़ा है तब तब भारतीय जीवन के क्षितिज में तिमिराच्छन्न घड़ियाँ उतरी हैं। इन क्षणों को निमूर्ल्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि ये ही क्षण पैगम्बर, मसीहा, ईश्वरतनय और जिनेन्द्र के आगमन की सूचना देते हैं।

वह ऐसी ही अन्धकार पूर्ण घड़ी थी। भारतीय संस्कृति का वैदिक और औपनिषदीय संतुलन बिगड़ गया था। लोग बाह्य क्रियाकाण्डों को ही धर्म का मूल स्वरूप समझ बैठे थे। यज्ञ के धुएँ से विवेक-नेत्र निमीलित हो गया था और सारी शस्य श्यामला भूमि पशुओं के रक्त से भींग गयी थी। यज्ञ-कुण्डों में पशुओं की बलि देकर देवता को प्रसन्न करने का उपक्रम किया जाता था। बाह्याचारों ने भारतीय मेधा की ऊर्जस्वित दिशा को अधोगामी बना दिया था। वह स्वार्थी, लोलुप पुरोहितों और पंडों के आधिपत्य का युग था। उनकी वाणी ईश्वर की वाणी समझी जाती थी। इसलिये नहीं कि वे धार्मिक जीवन व्यतीत करते थे अपितु इसलिये कि उन्होंने सामाजिक-तंत्र पर ही अपना अधिकार जमा लिया था। यह क्षण एक महापुरुष, धर्मप्रवर्तक और जिनेन्द्र के आगमन की भूमिका तैयार कर रहा था। एक ऐसे पुरुष के आगमन की प्रतीक्षा हो रही थी जो भारतीय संस्कृति के नष्टप्राय संतुलन को पुनः प्रतिष्ठित करे, धर्म के नाम पर प्रचलित कुरीतियों और अंधविश्वासों का खण्डन करे और धर्म के यथार्थ स्वरूप को अपने जीवन और कार्यों के माध्यम से अभिव्यक्ति दे।

इसीलिये महावीर स्वामी का अवतरण होता है। वे महावीर थे। इसलिये नहीं कि उन्होंने भूमि के टुकड़ों पर विजय पायी थी, अपितु इसलिये, कि उन्होंने मानवों के अन्तःकरण को अपने अलौकिक गुणों के द्वारा जीता था। उन्होंने निम्नतर मानवीय प्रवृत्तियों के दुर्दान्त राक्षस को

पराहत कर उन्नत मानवीय विभूतियों का साम्राज्य स्थापित किया था। वे एक ऐसे महापुरुष थे जिन्होंने विश्व के महानतम शत्रुओं-इंन्द्रियों और उसके उत्तेजनों—को परास्त किया था। वे एक ऐसे अतिमानव थे जिन्होंने देश-काल और कारण की सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए शाश्वत ईश्वरत्व को अपने जीवन के माध्यम से प्रकाशित किया था। जो रूप-राज्य की सीमाओं को छोड़ते हुए शाश्वत ईश्वरत्व की भूमिका पर प्रतिष्ठित होते हैं, जो इन्द्रिय-संवेदनों का तिरस्कार करते हुए ईश्वरीय अनुभूति का पान करते हैं, उन्हें ही हम पैगम्बर और मसीहा कहते हैं। वे ही धर्म-प्रवर्तक और महामानव होते हैं। उन्हें ही संसार जिनेन्द्र के नाम से जानता है। ये महापुरुष हमारे हृदयों पर राज्य करते हैं। इसीलिये हम उनके चरणों में लुण्ठित होकर अपने जीवन को कृतकृत्य बनाते हैं।

महावीर स्वामी के अवतरण से पूर्व भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेश लोगों के जीवन और कार्य का नियमन करते थे। किन्तु समय के साथ ही लोगों के आचार-विचार भी दूषित हो रहे थे। इसी दोष का निराकरण महावीर स्वामी ने किया। वे युगपुरुष थे। वे युग के प्रयोजन के अनुरूप कार्य करने आए थे। उनका कार्य किसी विशेष क्षेत्र से सम्बन्धित नहीं था। वे सारे जीवन को बदल देना चाहते थे। वे अपार करुणामय थे। उन्होंने लोगों के सामान्य दुःख-दर्दों को समझा था। सांसारिक व्याधि से ग्रस्त और पीड़ित संसारियों के प्रति उनका भाव अपूर्व प्रेममय था। उन्होंने मनुष्य

की व्याधियों के रूप को जाना था और उसके मूल कारण को समझकर उसके मूलोच्छेद का प्रयास किया था। वे आकाशचारी दार्शनिक या धर्म-प्रवक्ता नहीं थे। वे जानते थे कि अतीन्द्रिय अनुभूतियों की प्राप्ति इन्द्रियों के बाद ही होती है, असांसारिक सुख का मार्ग संसार के बीच से है तथा जिनेन्द्र का पथ रोग, शोक, मोह इत्यादि बाधाओं से भरा हुआ है। इसलिये उन्होंने पहले सांसारिक जीवन को जीने का पाठ पढ़ाया और लौकिक जीवन के नियमन की शिक्षा दी। दूसरे, उन्होंने मनुष्य को ही सर्वाधिक शक्तिमान और भाग्यविधाता कहा और आत्मविश्वास की शिक्षा देते हुए उसके अन्तरस्थ आत्मशक्ति की ओर इंगित किया। परलोकवासी ईश्वर और स्वर्ग की निराधार कल्पना को दूषित बताते हुए उन्होंने मानव-देह में निहित ईश्वरीय आलोक के दर्शन कराये। और तीसरे, उन्होंने ईश्वरीय आलोक को प्राप्त करने के पथ का निदर्शन किया।

तीर्थङ्कर महावीर जानते थे कि आचारप्रतिष्ठ उपदेश ही प्रभावशाली होता है। वे जानते थे कि दूसरों के दुःख और कष्ट को दूर करने के लिये दुःख के मूल हेतु और उसके निवारण के उपायों को जानना और उनकी परीक्षा करना आवश्यक है। इसीलिये वे समृद्धिपूर्ण परम्परागत जीवन शैली को त्याग कर वीतरागी हुए और बारह सुदीर्घ वर्षों की तपस्या से उन्होंने ज्ञान की उपलब्धि की। तपस्या के ये वर्ष अहम् के विसर्जन के युग थे। उन्होंने अपने अहम् को विशाल, सर्वव्यापी और अनन्त शक्ति में विलीन कर

दिया था। इस विलीनीकरण की प्रक्रिया में उनका सारा व्यक्तित्व ही ईश्वरत्व से प्रोद्भासित हो उठा था। 'केवल ज्ञान' की उपलब्धि के पश्चात् उन्होंने इस ज्ञानामृत का पान दूसरों को भी कराया था। वह प्रदत्त ज्ञान 'श्रुत ज्ञान' था। 'केवल ज्ञान' अर्थात् ईश्वरत्व की प्राप्ति के पथ पर महावीर को अनेक कठिनतर सोपानों से गुजरना पड़ा था। सांसारिक प्रलोभनों की आँधी तीव्र वेग से उन्हें विचलित करने के लिये उठी थी पर उसे महावीर के हिमालय सदृश्य वक्ष से टकराकर चूर-चूर हो जाना पड़ा था। इन्द्रिय-उत्तेजनों की अग्नि भी उन्हें अपनी समस्त दाहिका-शक्ति से जलाने के लिये प्रस्तुत थी पर महावीर की वीतरागिता की शीतल वायु ने उसे बुझाकर निष्प्राण कर दिया था। नाना प्रकार की कठिनतर परीक्षाओं से उत्तीर्ण होने के उपरान्त वे 'केवल ज्ञान' के अधिकारी बने थे तथा जीवन और उसकी सफलता के रहस्य को जान लिया था। तदनन्तर उन्होंने इस ज्ञान को प्राप्त करने केलिये जिज्ञासु लोगों का आवाहन किया।

भगवान् महावीर जानते थे कि लौकिक जीवन को परिवर्तित किये बिना 'केवल ज्ञान' की प्राप्ति असम्भव है। इसलिये उन्होंने लौकिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित करने के लिये एक त्रिपुट की अवतारणा की। धार्मिक जीवन के तीन सोपानों की त्रिपुटी में उन्होंने सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र की प्रतिष्ठा की। इसप्रकार उन्होंने जीवन के तीन महत्त्वपूर्ण पक्षों

श्रद्धा, ज्ञान और क्रिया को समन्वित कर जीवन को विघटित होने से बचा लिया।

महावीर स्वामी ने सिखाया कि श्रद्धा ही विवेक की दृष्टि है। श्रद्धा से सम्पन्न व्यक्ति ही सम्यक् दृष्टि का अधिकारी होता है। जिस व्यक्ति के हृदय में सम्यक् दृष्टि की प्रतिष्ठा होती है वह सुख-दुख को समान समझता है। उसका प्रेम विस्तृत होकर सारे संसार को अपने पाश में बाँध लेता है। मित्र और शत्रु को वह समान भाव से प्रेम करता है। यही विश्व-प्रेम सांसारिक सम्बन्धों की नश्वरता का ज्ञान करा व्यक्ति को वीतरागी बना देता है। ऐसे व्यक्ति को कोई भय नहीं होता। न तो उसे लोक का भय होता है और न परलोक का, न उसे रोग का भय होता है और न मृत्यु का। वह चोरों से नहीं डरता, उसे मानापमान की चिन्ता नहीं होती और न उसे आकस्मिकता का ही भय होता है। सम्यक्त्व प्राप्त व्यक्ति अशेष जगत् की मंगलकामना से सम्पन्न होता है। इंद्रियों की भूख उसे विचलित नहीं करती और वह समस्त प्राणियों से प्रेम करता है।

भगवान् महावीर ने सिखाया कि जो वस्तु जैसी है उसे उसी प्रकार जानना 'सम्यक् ज्ञान' है। सच्चा ज्ञान वह है जो व्यक्ति को सन्मार्ग में चलाता है, उसके जीवन को ऊँचा उठाता है, जो आत्मज्ञान में सहायक है। शुद्धज्ञान की पराकाष्ठा है 'केवल ज्ञान'। व्यक्ति जब मायाराज्य के बन्धनों को काट कर जीवन्मुक्त की दशा पर पहुँचता

है तब उसे जिस दिव्य आत्मानन्द की अनुभूति होती है उसे ही 'केवल ज्ञान' कहते हैं। जो केवल ज्ञानी होता है वह सब कुछ जान लेता है। वह सर्वज्ञ और जिन हो जाता है।

भगवान् तीर्थङ्कर ने बताया कि जब व्यक्ति के द्वारा सम्यक् दृष्टि से सम्यक् कार्य किया जाता है तब उसे सम्यक् चरित्र की प्राप्ति होती है। ऐसा व्यक्ति पापों से पूर्णतया विलग हो जाता है। वह हिंसा नहीं करता, असत्य नहीं बोलता, चोरी नहीं करता, व्यभिचार नहीं करता और किसी वस्तु के प्रति आसक्ति नहीं रखता। उसके जीवन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के देवदुर्लभ गुणों का आनयन होता है।

युगात्मा महावीर ने निष्क्रिय और अकर्मण्य बनानेवाले भाग्यवाद के स्थान पर पुरुषार्थ और कर्म को प्रतिष्ठित किया। व्यक्ति स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। अच्छे कर्मों का सम्पादन करके वह जीवन्मुक्त हो सकता है और बुरे कार्यों के द्वारा वह निम्नतर योनियों में जा सकता है।

भगवान् महावीर ने कहा कि व्यक्ति स्वयं अपनी साधना से देव, जिन और तीर्थङ्कर बन सकता है। उन्होंने ऐसे किसी ईश्वर की कल्पना नहीं की जो आसमान में बैठकर मनुष्य को स्वेच्छानुसार दण्ड-पुरस्कार प्रदान करता है। वे मनुष्य के ईश्वरत्व को जगाना चाहते थे। वे प्रत्येक मनुष्य को ईश्वरत्व से सम्पन्न देखते थे तथा इसी

ईश्वरत्व की अभिव्यक्ति के लिये सम्यक् पथ की उन्होंने अवतारणा की थी। वे नर को नारायण बनाना चाहते थे इसीलिये उन्होंने उच्च स्वर में मनुष्य के अन्तस्थ देवता का आवाहन करते हुए कहा कि तुम स्वयं सम्यकत्व में दीक्षित होकर जीवन्मुक्त हो सकते हो। तुम्हारे अतिरिक्त ईश्वर अन्यत्र कहाँ है। जीवन्मुक्त व्यक्ति ही देवता है, वही परमात्मा है। ऐसा व्यक्ति ही तीर्थङ्कर कहलाता है। संसार ऐसे मुक्तकाम पुरुष को ही जिन कहता है।

भगवान महावीर ईश्वरतनय थे। यद्यपि उन्होंने किसी नवीन धर्म का प्रवर्तन नहीं किया किन्तु उनकी वाणी ने एक महान् मानववादी धर्म की प्ररोचना की है। अपने जीवन और संदेश के माध्यम से उन्होंने एक बार फिर से धर्म के वास्तविक स्वरूप का उद्गीरण किया और उसे सर्वजन-सुलभ बनाया। वे मानव-धर्म के प्रवक्ता महापुरुष थे जिन्होंने सनातन धर्म को अपने कृतित्व से एक नया संस्कार प्रदान किया।

— आकाशवाणी इंदौर-भोपाल से साभार।

इतिहास का सबसे बड़ा व्यक्ति निर्धन था।

— एमर्सन
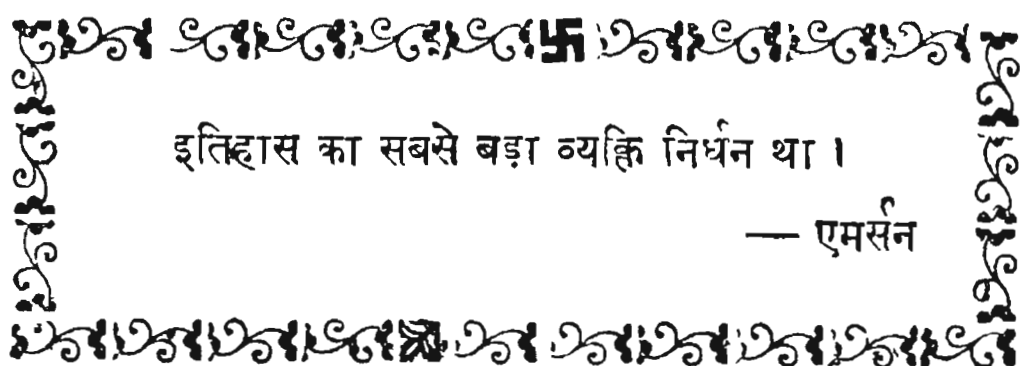
लोक तंत्र का प्रतीक : 'भरत'

प्राध्यापक कनककुमार तिवारी

रामायण भारत की गौरवमयी संस्कृति की सर्वाधिक लोकप्रिय साक्षी है। उसने भारत की जीवनधारा को स्पर्श किया है। मानव मनोवृत्तियों का जैसा विशद और व्यापक विश्लेषण रामायण में हुआ है, सम्भवतः अन्य किसी ग्रन्थ में नहीं हुआ है। इतने चाव और तफसील से रामायण के कवियों ने इस महाकाव्य में भारत की आत्मा सँजोई है कि इतिहास भी उनके सामने लजा गया है। रामायण के कवियों ने एक अभिनव प्रयोग किया है। उन्होंने हाड़-मांस के मनुष्यों को ही धरती का देवता बनाने की चेष्टा की है। देवता अपने सम्पूर्ण बड़प्पन के बावजूद सम्भवतः कृपण और सामन्ती रह जाता है। परन्तु रामायण के पात्रों ने निरन्तर मनुष्य बनने की ही कोशिश की। राम आज भारतीय जनजीवन का सर्वाधिक प्रबल प्रवक्ता है। वह सम्भवतः भारतीय इतिहास का सबसे बड़ा 'धरती का देवता' है क्योंकि उसने यहाँ से आसमानी देवताओं का रिवाज़ उठा दिया है।

रामायण की कथा का नायक है राम और नायिका है सीता। मर्यादा पुरुषोत्तम राम के चरित्र का लोकमानस में अत्यधिक प्रचार किया गया है। परन्तु यह बात

सम्भवतः भुला दी गई है कि उतार-चढ़ाव की दुर्गम राहों पर चलने वाली ज़िन्दगी की शोभायात्रा में अन्य पात्र सहायक भले हों, गौण नहीं हो सकते। वे सभी अपनी कोटि के आदर्श हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से यदि हम रामायण कालीन इतिहास का तटस्थ अध्ययन करें तो वे सभी जीवित जागृत समाज के अनिवार्य अंग मालूम पड़ते हैं। रामायण के मर्मज्ञ विदेशी विद्वान डा० ग्रियर्सन ने भी यही बात कही है :—

"His (Tulsi Das's) characters live and move with all the dignity of a heroic age. Dashrath, the man of noble resolves, which fate had doomed to be unfruitful; Ram of lofty and unbending rectitude, well contrasted with his loving but impetuous brother Lachhman; Sita the perfect woman nobly planned. .... Then what a tender devotion there is in Bharat's character, which by its sheer truth overcomes all the false schemes of his mother Kaikeyee and her maid. His villains, too, are not one black picture. Each has his own character and none is without his redeeming virtue."

वस्तुतः वाल्मीकि, तुलसीदास प्रभृति कवियों ने अपनी अनुप्राणित अंतर्दृष्टि से विश्व की धड़कती हुई नब्ज़ को टटोला है। लोकजीवन की इन अन्यतम गाथाओं को औपन्यासिक काव्यात्मक विन्यास में गूँथकर उन्होंने एक ओर हृदय की ज्वाला और आत्मा की पीड़ा को पहचाना

और दूसरी ओर हमारी चिरपोषित भावनाओं और सपनों के गीत गाए।

अनेक प्रयत्नों के बावजूद राम में आसमानी देवता का अंश अधिक हो गया है। उसकी कर्त्तव्यमयता कभी कभी कठोरता में परिवर्तित होकर अन्याय की सीमा छूने लगती है। रामायण में सहज मानवीयता के उच्चतम मानदण्डों का सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि है भरत। वह रामायण का सर्वाधिक सात्त्विक और मौलिक चरित्र है। वह किंवदन्तियों और परी-कथाओं का राजकुमार नहीं है वरन् हमारे राष्ट्रीय सांस्कृतिक जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। निर्मम परिस्थितियों में उसके शैशव ने आँखें खोलीं। प्रचंड आँधियों ने लोरियाँ गाकर उसे अपने पालने में सुलाया। दुर्भाग्य के बेरहम थपेड़ों ने उसके शरीर को वज्र सा इस्पाती बनाया। अत्यधिक संघर्षमयी मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि में उसकी कर्मठता मुखर होती है। पिता की मृत्यु, भाई का वनवास, माता का हठ, जनसमूह की सशंकित दृष्टि, आत्मिक ग्लानी और रियासती उलझनों का भार उठाने में भरत ने हिमालय जैसी चट्टानी दृढ़ता और फौलादी इच्छाशक्ति का परिचय दिया है। उसने हमारी राष्ट्रीय मान्यताओं की मर्यादा का गौरवपूर्ण निर्वाह किया। पुत्र, भाई, शासक एवं भक्त प्रत्येक रूप में निष्काम कर्म के सच्चे साधक भरत ने व्यापक मानवीय संवेदना की महानतम ऊँचाइयों का स्पर्श किया है।

राम और भरत दोनों के चरित्र की उदात्तता का

रहस्य है — सत्ता के प्रति निरपेक्ष भाव। राम लोकप्रिय थे। यदि वे सत्ता हथियाना चाहते तो राजा दशरथ के निर्णयों के विरुद्ध जन-क्रान्ति हो सकती थी। परन्तु उन्होंने सत्ता का त्याग किया। भरत को सत्ता आसानी से मिली, परन्तु उन्होंने भी उसे त्याग दिया। भाई का राज्य नहीं लिया। सत्ता के लिए संघर्ष और हत्याओं के विवरण से विश्व-इतिहास भरा पड़ा है। लेकिन राम और भरत ने सत्ता को गौण मान कर लोकशाही की स्थापना के लिए संघर्ष किया। भरत का संघर्ष राम से कम कठिन नहीं था, यद्यपि प्रचारकों ने राम का ही साथ दिया है। भरत के चित्रांकन का सर्वश्रेष्ठ स्थल है-चित्रकूट-प्रसंग। राम के समक्ष भरत तीन तर्क उपस्थित करते हैं।

(१) 'इक्ष्वाकुवंश की परम्परानुसार राज्य के अधिकारी आप हैं, मैं नहीं।'

(२) 'यह सर्वसम्मति है कि आप पुनः लौटकर राज्य का उत्तर दायित्व एवं कार्यभार स्वयं ग्रहण करें।'

(३) 'मैं अपनी माता की इच्छा का घोर विरोध करता हुआ यह नहीं चाहता कि किसी भी प्रकार उसकी कुमंत्रणाओं एवं कुकार्यों को सफल होते हुए देखूँ।'

राम भरत के इन तर्कों के समक्ष निरुत्तर थे। वे धर्मशीलता, नैतिकता और आदर्शों की दुहाई देते हैं। भरत को वे माता पिता की समन्वित आज्ञा मानने का आदेश देते हैं। दृढ़ संकल्पात्मक हठधर्मिता का रुख अपनाने के

कारण राम का आदेश भरत को भले मान्य हो, वह उसके प्रश्नों का उत्तर नहीं है। इस संघर्ष (!) का विश्लेषण करते हुए स्व. श्री निवास शास्त्री ने एक महत्त्वपूर्ण बात कही है: "So the honours were equally divided - Ram winning in facts while Bharat in law and in form deriving power from his sandals." स्वयं राम ने भरत में एक महान् शासक के गुण देखकर कहा —

"आगता त्वामियं बुद्धिः स्वजा वैनयिकी च या।
भृशमुत्सहसे तात रक्षितुं पृथिवीमपि॥
अमात्यैश्च सुहृद्भिश्च बुद्धिमद्भिश्च मन्त्रिभिः।
सर्वकार्याणि सम्मन्त्र्य महान्त्यपि हि कारय॥"

(हे तात! तुमको यह विनयशील बुद्धि स्वयं आ गई है। तुम तो पृथ्वी की रक्षा अपनी इसी बुद्धि से कर सकते हो। अमात्य, सुहृदों और मन्त्रिजनों की मंत्रणा से बड़े बड़े कार्य साधित कर लेना।)

इन पंक्तियों के लेखक का यह विनीत मत है कि भरत के इन तीन अनुत्तरित प्रश्नों ने इश देश में एक महान् वैचारिक राजनीतिक क्रांति की है जिसका प्रभाव आज उसकी अर्थ नीति पर भी है और कूटनीति पर भी। भरत ने देश के इतिहास को एक नया मोड़ दिया है। अपने प्रथम प्रश्न द्वारा भरत ने संवैधानिक दृष्टिकोण के प्रति अपनी आस्था प्रदर्शित की। साथ ही देश के लिए प्रशासन संबन्धी संविधान की आवश्यकता का निरूपण किया। वे राजशाही के उत्तराधिकार के हिमायती नहीं थे। भरत में यह संवैधानिक

निष्ठा सदैव बनी रही। भरत-राज्य वस्तुतः रामराज्य के संविधान की प्रस्तावना का युग था। अपने दूसरे प्रश्न में भरत ने लोकतंत्र की आत्मा ही जैसे रख दी है। यह भरत ही थे जिन्होंने लोकतंत्र को एक दृष्टि, जीवन और तरीका दिया। राज्य सम्बन्धी निर्णयों में लोकमत के तत्त्व का आदरपूर्ण समावेश करने की पहल भरत ने ही की थी और आज यह हमारे राष्ट्रीय जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। भरत ने जनतंत्र के कुछ आदर्श, प्रतिमान और मान दण्ड स्थिर किए। उन्होंने लोकतंत्र की एकांगी परिभाषा को पूर्णता प्रदान की। लोकतंत्र में भरत को गहरी आस्था थी। उत्पीड़ित, भूखे, नंगे और अज्ञानी लोगों के लिए उन्होंने बड़े दुख सहे। आज हमारी आँखें रामराज्य के भावुकतापूर्ण चित्र की खोज में हैं। रामराज्य की कल्पना करते समय दुर्भाग्य से हम यह ऐतिहासिक तथ्य भुला देते हैं कि रामराज्य की बुनियाद सुदृढ़ भरतराज्य में ही थी। यह एक अक्षम्य ऐतिहासिक भूल है। आभिजात्य वर्ग के एकाधिपत्य के विरुद्ध प्रजातंत्र की स्थापना का नारा सर्व प्रथम भरतने ही बुलन्द किया था। अपने अन्तिम प्रश्न में भरत ने राजनीति में व्यावहारिकता के समावेश की बात उठाई है। माता कैकेयी अन्ततः स्त्री ही है। मातृ सुलभ पक्षपात की भावना उसमें है तथा है अविवेकपूर्ण भावुकता। प्रशासक को इनसे ऊपर रहना चाहिए-इस अछूते प्रश्न का उद्घाटन भी भरत ने किया। भरतनीति के अनुसार, व्यापक जनहित की तुलना में पारिवारिक उलझनों को महत्त्व नहीं दिया जाना

चाहिए। भावुकता में लिए गए राम के निर्णय की समीक्षक आज भी आलोचना करते हैं, विशेष कर सीता-परित्याग की। परन्तु भरत की विवेकपूर्ण नीतियाँ आलोचना से परे हैं। जो भी हो, दशरथ के इन दो बेटों ने भारत की नई तकदीर लिखी है; राजनीति, धर्म और प्रेम के क्षेत्रों में क्रांतिकारी प्रयोग किए हैं; आसुरी प्रवृत्तियों के मुहँपर कोलतार का पोचारा फेरा है। उन्होंने हमारी राष्ट्रीय अनु-भूतियों को नूतन प्रसंगों में ध्वनित किया है। यह अनुगृहीत राष्ट्र आज भी सम्पूर्ण वफादारी के साथ उनका पुण्य स्मरण करता है। राष्ट्रीय घटनाएँ आज भी उस युग की पुनरावृत्ति की मानो चेष्टा करती हैं।

भौतिक अर्थ तो शरीर के साथ ही कब्र में दाखिल दफ्तर हो जाते हैं। रहता है केवल प्रतीकात्मक अर्थ। बदले हुए राष्ट्रीय सन्दर्भों में भरत के नाम का साधारणी-करण भी स्पष्ट परिलक्षित हुआ है। क्या अर्थ है 'भरत' का इस लड़खड़ाती नई दुनिया में? इतिहास ने इसकी एक और गवाही दी है। हाल ही में 'राम' जब दक्षिण की अपेक्षा उत्तर के मोर्चों पर जूझ रहा था, देश की 'सीताओं' की इज्जत फिर ख़तरे में थी, तब बापू और पण्डितजी के गौरवमय बलिदान की प्रेरणा से प्राप्त यह हिन्दू-मुस्लिम एकता का भरत-भाव ही स्व० शास्त्रीजी के नेतृत्व में उपजा था। इस भाव ने ही हमारे पौरुष की रक्षा कर इतिहास को कलंकित होने से बचा लिया। अब्दुल हमीद, रणजीत-सिंह दयाल और ए० एस० तारापुर प्रभृति जवानों की

फड़कती भुजाओं ने यदि राम के शौर्य की प्रतिष्ठा रखी है तो वहीं दूसरी ओर प्रत्येक मेहनतकश किसान और मज़दूर के पसीने की हरबूँद ने भरत की लगन और निष्ठा की याद ताज़ा की है। देश के इतिहास ने एक करवट लेकर भरत के वे तीन सवाल फिर दुहराए। भारत ने भी उनका समुचित उत्तर देकर इतिहास में प्राणों का संचार किया है। अब भरत कोई शारीरिक ढाँचा नहीं रहा। वह आत्म त्याग की दार्शनिक प्रतीति है। भाईचारे की राष्ट्रीय अनुभूति है। वह मर्यादित और अनुशासित प्रेम का भाव है। वह दिलों की एकता का प्रतीक है। उसके शरीर की मांसलता अब भारत की आत्मा में परिवर्तित हो गई है। अतएव भरत अब हमारे राष्ट्रीय चरित्र का पर्याय है।

आज हम इतिहास के महत्त्वपूर्ण मोड़ पर खड़े हैं। यह क्रान्ति-युग नई वेदनाएँ लेकर आया है। हर समस्या एक दुखद करवट ले रही है। लोग बेहूदा हलों की ओर भूखों की तरह लपकते हैं। बड़े हो नाजुक वक्त में हम एशिया की धरती पर लोकतंत्र का पौधा सींच रहे हैं। इस पौधे के विकास पर ही अनेक देशों की तकदीरें निर्भर हैं। परन्तु भरत की तरह हम भी अपनों द्वारा ही छले जा रहे हैं। दुनिया रामायण के सुरभित सन्देश की अपेक्षा मृत्यु, नरक और शैतान के विकृत भय से किलबिला रही है। व्यक्ति का जीवन एक अन्तहीन पलायन है। हमारे अन्तर की जोत अब तक नहीं जगी है। बड़ी नाजुक और निर्णायक घड़ी है यह। 'भरत' का यह केन्द्रिय भाव हमारा निर्देशक

हो सकता है। हमें पूरी लगन, निष्ठा अनुशासन और भाईचारे के साथ राष्ट्र की सेवा का संकल्प लेना है। हर तरह के संकट का मुकाबला करने तथा हर तरह के त्याग के लिए तैयार रहना है। यही नहीं, जैसा कि श्री रामकृष्णदेव के अनुभव को ध्यान में रखकर स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, "हम हिन्दू लोग केवल सहिष्णु ही नहीं हैं। हम प्रत्येक धर्म से स्वयं को एकाकार कर देते हैं। हम मुसलमानों की मस्जिद में प्रार्थना करते हैं। हम पारसियों की अग्नि को पूजते हैं। हम ईसाइयों के क्रास के सम्मुख झुकते हैं।" भरत मानव-धम का व्यक्ति-वाची पर्याय है। आज ऐसे धर्म की आवश्यकता है जिसे उपदेशों का अमृत छिड़ककर नहीं वरन् सामान्य बुद्धि और न्याय के आधार पर गढ़ा जाए। इस धरती को हम स्वर्ग की अनुकृति बनाने की चेष्टा करें। उस श्वास को अनुभव करें जो विश्व में व्याप्त है। वह जोत जगाएँ जो .आत्मा को गरमाती है। प्रजापालक भरत की आत्मा का सच्चा एहसास हमें तब ही होगा।

———

यदि मनुष्य पाप कर भी ले तो उसे पुनः न दोहराये, न उसे छुपाये और न उसमें रत हो। पाप का संचय ही सब दुःखों का मूल है।

— गौतमबुद्ध

सागर और तिनका

डा० प्रणवकुमार बनर्जी, पेण्ड्रा

आलोक और अन्धकार,
आशा-निराशा,
हर्ष-विषाद,
चलते हैं अपने क्रम में,
सागर के तिनकासा जीवन
इस क्रम के निर्मम लय पर !

नभ की ऊँचाई बहुत है,
धरती का विस्तार भी कितना,
सागर की गहराई है इतनी,
हर पल का शृंगार जितना;
अपनेपन का अस्तित्व,
शबनम के आडम्बर सा !

मधु का स्वप्न मधुर हो,
पतझर के सिक्त क्रन्दन,
जीने को वे काफी हैं,
जो हैं हृदय स्पन्दन;

सागर में डूब जाने से,
तैरकर जीना अच्छा है।

यमुनोत्री से गोमुख

प्राध्यापक देवेन्द्र कुमार वर्मा

(गतांक से आगे)

बरकोट से हमारी गाड़ी करीब चार बजे शाम को धरासू पहुँची। वहाँ पुण्यसलिला भागीरथी के दर्शन हुए। अब रास्ता नदी के किनारे-किनारे ही चला गया था। यमुना के विछोह का दुःख इस सुरसरि ने बिसार दिया। मार्ग में ज्यादा उतार-चढ़ाव न था। पहाड़ की तराइयों में खेत बने हुए थे। उनमें लगाई गई अनेक प्रकार की फसलें मानचित्र में विभिन्न रंगों द्वारा दर्शायी गई आकृतियों की भाँति सुन्दर प्रतीत हो रही थीं।

उत्तरकाशी में जब बस पहुँची तब रात के आठ बज रहे थे। चारों ओर हरित हिमश्रेणियों से घिरा हुआ यह छोटा सा नगर विद्युत् के प्रकाश से आलोड़ित हो रहा था। उत्तरकाशी में बसस्टैंड के पास ही बिड़ला धर्मशाला है। वहाँ लोगों की भीड़ काफी थी। सौभाग्य से हम लोगों को एक कमरा प्राप्त हो गया। वहाँ सामान आदि रखकर भोजन के लिए बाहर निकले। पास ही छोटा सा बाजार भी है। वहीं के एक भोजनालय में भोजन करके वापस आ गये। आज भी ८-१० मील की पैदल यात्रा हो चुकी थी। पैर जवाब दे चुके थे। अतः शीघ्र ही शैय्याशायी हो गये।

सबेरे पाँच बजे नींद खुल गई। मंद मंद शीतल समीर

बह रहा था। उत्तरकाशी ४००० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। इसलिए वहाँ विशेष ठंड नहीं थी। बड़ा आह्लाददायक वातावरण था। आज हमें कई कार्य निपटाने थे। सबसे आवश्यक था, गंगोत्री यात्रा के लिए परमिट बनवाना। भारत का सीमावर्ती क्षेत्र होने के कारण इसका सैनिक महत्त्व बहुत बढ़ गया है। आसपास सैनिक कैंप भी बहुत हैं। प्रत्येक यात्री को परमिट निकालना आवश्यक था। अतः प्रातःकाल गंगा में स्नान कर हम लोग इस कार्य के लिए निकल पड़े। कार्यालय में मालूम हुआ कि परमिट ग्यारह बजे मिलेगा। अतः इस प्राचीन नगर के दर्शन के लिए निकल पड़े।

बनारस की ही भाँति यहाँ विश्वनाथजी का प्राचीन मंदिर है। वहीं हम लोग पहले गये। मंदिर के सामने ही विशाल त्रिशूल गड़ा हुआ है जिसकी लंबाई करीब २० फुट होगी। मंदिर के पुजारी ने बताया, यह त्रिशूल अष्ट धातुओं के मेल से बना है और अति प्राचीन है। इसकी सुरक्षा के लिए इसे एक कमरे में रखा गया है। मंदिर के पास, काशी की ही भाँति, अन्नपूर्णा देवी, भैरव आदि के मंदिर हैं पर वे जीर्णावस्था में पहुँच गए हैं और उनकी देख-रेख भी ठीक नहीं हो पा रही है। गंगा के किनारे अनेक आश्रम और धर्मशालाएँ बनी हैं। सुन्दर घाटों से युक्त इस स्थल की शोभा देखते ही बनती है। वाराणसी को भाँति उत्तर-काशी भी वारणा और असि नदियों के बीच में बसा है। इसीलिए इसे सौम्य वाराणसी भी कहते हैं। ये नदियाँ

नगर के दो ओर से भागीरथी में आकर मिलती हैं। इसी-लिए यहाँ के घाटों के नाम भी बनारस के घाटों के नाम पर से हैं। यहाँ भी गंगा आश्चर्यजनक रूप से उत्तरवाहिनी है इसीलिए इसका नाम उत्तरकाशी पड़ा है। मैंने सुना था कि महाभारत-कालीन जड़भरत का आश्रम भी यहाँ से कुछ दूरी पर है, पर हम लोग वहाँ नहीं जा पाये। गंगातट के कुछ आश्रमों के दर्शन करके लौट आये।

करीब चार बजे परमिट मिली। कैमरा ले जाने के लिए विशेष अनुमति लेनी पड़ती है। सैकड़ों व्यक्ति परमिट के लिए आये थे। यहीं पर धानबाद के फ्यूएल टेक्नालाजी के पाँच बंगाली युवकों से परिचय हुआ। ये सज्जन भी गंगोत्री यात्रा पर निकले थे और गोमुख तक जाने की इच्छा रखते थे। गोमुख-दर्शन की मेरी भी इच्छा थी। अतः हमने उधर साथ यात्रा करने का निर्णय लिया। संध्या समय हम लोग गंगा तट पर घूमते रहे। बाजार में आकर हमने कुछ आवश्यक चीजें खरीदीं। भटवारी के लिए बस की टिकटें भी शाम को ही खरीद लीं। धर्मशाला में आकर सेन दादा ने मेरा साथ देने का निश्चय किया; अर्थात् उन्होंने अपना सामान कुली न करके स्वयं लादकर ले जाना तय किया। सामान दत्तबाबू का अधिक था और उनकी काया भी ऐसी न थी कि स्वभारवाही हो सकें। अतः उन्होंने पाँच अन्य बंगाली सज्जनों के साथ कुली करना तय किया। सेन बाबू ने अपना अतिरिक्त सामान धर्म-शाला के मैनेजर के संरक्षण में छोड़ दिया।

दूसरे दिन प्रातःकाल ६ बजे की बस से हम लोग भटवारी के लिए रवाना हो गये। नगरसीमा के बाहर परमिट की जाँच हुई। करीब ७½ बजे हम लोग भटवारी पहुँचे। बस से उतरते ही मैंने और सेन बाबू ने अपना-अपना सामान उतारा और बिना विलंब के पैदल यात्रा में निकल पड़े। आज हम लोगों ने अठारह मील चलकर सुक्खी में विश्राम करना तय किया था। आगे का मार्ग काफी चौड़ा बनाया गया था जिसमें जीपें और ट्रकें आसानी से जा सकती थीं। अभी सिर्फ सैनिक गाड़ियों को ही आने जाने की अनुमति थी। मार्ग गंगा के किनारे किनारे चला गया है। नदी के दोनों ओर भव्यता लिए हुए ऊँचे ऊँचे पर्वत शिखर हैं, पर बनस्पतिविहीन हैं। मार्ग क्रमशः चढ़ाई का था। गंगा तूफानी वेग से बही जा रही थी। मानों लक्ष्य में पहुँचने की विकलता हो। ऋषिकेश के पास का वह सौम्य रूप न जाने कहाँ विलीन हो गया था। दुर्धर्ष चट्टानों को काटती हुई, बड़े-बड़े शिला खंडों को बहाती हुई, भीषण रव करती हुई वह बही जा रही थी। कहीं कहीं उसके रास्ते में बड़े बड़े पर्वतखंड मानों उसका मार्ग अवरुद्ध करने के लिए पड़े थे। शायद ये किनारे के पर्वत से आ गिरे हों। ऐसे स्थलों में उसका स्वरूप और भी प्रलयंकारी हो उठता। भीषण असंतोष प्रकट करती हुई, गंभीर गर्जना करती हुई वह बहती तो ऐसा प्रतीत होता मानो कूलों को डुबाकर सराबोर कर देगी। वातावरण में हर हर की गंभीर

ध्वनि गूँज रही थी। नदी के दूसरी ओर की पर्वतमालाओं की शोभा और भी निराली थी। बद्रीनाथ के मार्ग में ऐसी श्री:शोभा देखने को मिली थी। उत्तुंग शिखर, किले की दीवार की भाँति सपाट और सीधे, नदी के किनारे किनारे मीलों दूर चले गए थे। मानों एक ओर से नदी की सुरक्षा हेतु प्रकृति ने दीवार खड़ी कर दी हो। विशाल पर्वत-श्रेणियों की भव्यता मानस पटल पर अमिट छाप छोड़े जा रही थी।

करीब १० बजे हम लोग नौ मील की दूरी तय करके गगंनानी पहुँचे। यहाँ पर सुनने में आया कि कुछ ऊँचाई पर गरम पानी का कुंड है, जो 'ऋषि कुंड' कहलाता है। मैंने सेनदादा से पूछा, "क्या चलेंगे ऊपर?" चलने के नाम से ही वे वहीं पर धप्प से बैठ गए और बोले, "हम अब एक कदम नहीं हाट सकता, भूख से हमारा पेट बलता है। आज एखाने ही (यहीं) बास करेगा।" ऊँचाई देखकर मेरी भी जाने की हिम्मत नहीं हुई। अतः वहीं से 'ऋषि कुंड' को नमस्कार कर लिया। इस बीच में सेन दादा भोजन व्यवस्था में लग गये। एक चट्टीवाले से पूछ रहे थे, "खाने का कितना पैसा लेगा?" उसने बताया, "पूड़ी बारह आने पाव।" "हम पाव-टाव कुछ नहीं जानता," सेन दादा बोले, "दो लोगों को पेट भर खाना है, पैसा बोलो।" उनका डील-डौल देखकर चट्टीवाला सोच में पड़ गया; फिर बोला, "आपका, दो रुपया और ये बाबू का सवा रुपया।" "हमरा वास्ते दो

रुपया बोलता है, शाला," सेनदादा धीरे से बुदबुदाये और उससे बोले, "ठीक है, जल्दी निकालो, खाना।" उसने गरम गरम पूड़ी और आलू की तरकारी परोस दी। क्षण भर में सेन बाबू ने उस पर हाथ साफ कर दिया और बोले, "जल्दी पुड़ी ले आव।" उसने फिर पाव भर पुड़ी परोस दी। मेरा अभी पहला ही कोटा समाप्त नहीं हुआ था कि सेनदादा की थाली साफ थी। दूकानदार उनकी क्षुधा देखकर हैरान था। उसकी भोज-सामग्रियाँ जिस तीव्रता से सेन दादा के उदर-गह्वर में विलीन होती जा रही थीं, उससे वह आतंकित हो उठा था। उसने तुरंत जितनी पूड़ी तली थी सब लाकर डाल दी। सब्जी के लिए अपनी कढ़ाई ठोक-पीटकर उड़ेल दी ताकि मालूम हो जाये कि अब सब्जी नहीं है। सेनदादा प्रसन्न भाव से बोले, "हम जब तक नाहीं, नाहीं बोलेगा तब तक डालते जाना। आज हमको जोर का खुदा (क्षुधा) लगा है।" उनका खाना और चट्टी वाले की परेशानी देखकर मेरे लिए हँसी रोकना मुश्किल हो रहा था। थोड़ी देर में खाना समाप्त कर बोले, "भाई, अभी तो आधा पेट नहीं भरा।" चट्टीवाला बोला, "साब, अब पुड़ी नहीं है, चावल थोड़ा है, दूँ?" सेन दादा ने कहा, "ठीक है, चावल ही सही। "छोटो गंजी में चावल शायद उसने अपने लिए बनाया था, वही ले आया। सेन बाबू बोले, "ठीक है सब डाल दो। फिकर मत करो हम सब खा जायेगा। जब तक ये खाता है, हमारे वास्ते थोड़ा पूड़ी और बना दो।" जब तक सेन बाबू खाना पूरा करते,

चट्टीवाला हाथ जोड़कर खड़ा हो गया और बोला, "साब, हमारा ऊपर रहम करो, हम गरीब आदमी है। आप जितना पैसा देगा हम ले लेगा पर इससे जास्ती खाना खिलाने का हमारा हिम्मत नहीं है। और दूसरा ग्राहक को हम क्या खिलायेगा?" "ठीक है; अब तुम बोलता है, तो हम पेट भर खाना नहीं खायेगा," सेन दादा ने उसको अभय दान देते हुए कहा। आज मैं उनकी उदरस्थ करने की शक्ति देखकर स्तंभित था। मेरी ओर प्रमुदित मन से बोले, "बोरमा जी, (मेरे नाम की शल्य क्रिया वे अपने मूड के अनुसार करते थे; जब कभी उपदेश देने के मूड में होते थे तब कहते थे, मिस्टर बर्मन) अब हम एकट्ठ एकट्ठ करके हाट सकता है। अब तो हमारा खाना आधा भी नहीं रहा। दस बरस का पहिले हम हजार दंड औ दो हजार बैठक एक बार में लगाता था। हमकू शोरकार का तरफ से 'बॉडी बिल्डिंग' में फर्स्ट प्राइज़ मिला था। अब शब छाड़ दिया। अब तो दम भी नहीं रहा।" उनके विशालकाय शरीर को देखते हुए उनके कथन में कहीं भी अतिशयोक्ति का भास नहीं होता था। अस्तु, उस दिन चट्टी वाले पर कहर ढाकर हम लोग अपनी यात्रा में पुनः निकल पड़े।

अब मार्ग क्रमशः चढ़ाई का था। भोजन के बाद चलने में जरा कठिनाई हो रही थी अतः हम लोग रुक रुक कर चल रहे थे। मार्ग से हटकर पास ही पाराशर ऋषि का आश्रम था। वेदकालीन प्रातः स्मरणीय ऋषियों ने हिमालय

की इन दुर्गम वनस्थलियों में अपना निवास बनाया था, यह सोचकर मन विस्मय में पड़ जाता था। सुनने में आया था कि उपनिषद् कालीन ऋषि उद्दालक, श्वेतकेतु, कपिल आदि के आश्रम भी उत्तरकाशी के आस पास ही अवस्थित थे। कैसी रही होगी, वह तपोभूमि जो सामवेद के मधुर-गान से गुञ्जित होती रही होगी। आज जहाँ इन मार्गों में इतनी बीहड़ता और दुर्गमता है वहाँ हजारों वर्ष पूर्व कितनी दुर्गमता रही होगी इसकी कल्पना तक नहीं की जा सकती।

धीरे धीरे सूखे पहाड़ों की ओर से हिमाच्छादित शिखर दृष्टिगोचर होने लगे। गंगोत्री के मार्ग में हिमशिखरों का यह प्रथम दर्शन था। हम लोग काफी चढ़ाई चढ़ आये थे। पीछे मुड़ कर देखा तो उधर भी कतार में हिमगिरि-शृंग जगमगा रहे थे। गंगा अब गहरी घाटियों से बह रही थी। दूर तक उसका प्रवाह देखा जा सकता था। कुछ देर में सुक्खी ग्राम ऊँचाई पर नजर आने लगा। किंतु यह महज मृगतृष्णा थी। गाँव सामने तो था, मगर रास्ता बहुत घूम फिरकर गया था। यह चढ़ाई चढ़ते चढ़ते हालत खराब हो गई। ले-देकर पाँच बजे हम लोग सुक्खी पहुँचे। यहाँ हम लोग धर्मशाला में ठहरने वाले थे। पर अचानक एक सज्जन से मुलाकात हो गई। इनसे टेहरी में परिचय हुआ था। ये सुक्खी के मिलिट्री कैंप में कार्य करते थे। इन्होंने वहीं कैंप में ठहरने का आग्रह किया। अतः हम लोग इनके साथ चल पड़े।

धीरे धीरे संध्या घनी होने लगी। साथ ही ठंड भी जोरों से पड़ने लगी थी। सुक्खी ८००० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। यहाँ से चारों ओर हिम श्रेणियाँ अद्भुत आभा फैला रही थीं। उक्त सज्जन ने एक खाली तम्बू में हमारे निवास का इन्तजाम कर दिया और आराम करने की हिदायत दे भोजन की व्यवस्था करने के लिए चले गए। तम्बू के अंदर बड़े अच्छे गद्दे लगे हुए थे। हम लोग बुरी तरह थक गए थे। अठारह मील की चढ़ाई से घुटने भर गए थे। गद्दे पर लेटते ही गहरी निद्रा में मग्न हो गए।

जब नींद खुली, तो देखा घड़ी में नौ बज रहे हैं। सेन बाबू को उठाया। बाहर अंधकार छाया हुआ था। कड़ाके की ठंड थी। तम्बू के अंदर हम लोग अच्छी तरह ओढ़कर बैठ गए। करीब आधा घंटा और बीत गया। मेजबान का पता ही नहीं था। सेनदादा ने कहा, "चलो, चलकर देखें, कुछ इंतजाम किया है या नहीं।" उस अंधकार में टटोलते टटोलते उनके निवास तक पहुँचे। अंदर बत्ती टिमटिमा रही थी और कई लोगों के हँसने की आवाज सुनाई पड़ रही थी। ज्योंही दरवाजा खोल कर हम लोग अंदर घुसे, तो भौंचक्क रह गए। अंदर विचित्र वातावरण था। तीन-चार लोग मिल कर नाच रहे थे और जोरों से हँस रहे थे। हम लोगों को देख कर वे और जोरों से हँसने लगे। अजीब माजरा था। कुछ समझ में नहीं आया। सेनदादा ने मुझे खींच कर बाहर निकाला और बोले, "तुम देखता नहीं है, शाला लोक शब शराब पिया है और नाचता है। चलो बाहर

चलो।" इतने में पीछे से मेजबान आ पहुँचे। उनके मुँह से भी शराब की गंध आ रही थी। पर वे आपे से बाहर न थे। बड़े अनुनय भरे शब्दों में कहने लगे, "माफ करेंगे, गलती हो गई। जो खाना बनवाया था उसे ये सब चट्ट कर गये। अभी आप लोगों के लिए खाना बनवाता हूँ।" "नहीं, गलती आप से नहीं, हम लोगों से हुई, जो हम लोगों ने आपको कष्ट दिया," हम लोगों ने कहा, "आप अब भोजन की चिंता मत करिये।" यह कहकर हम लोग वापस तम्बू में आ गए। रात भर वहाँ विश्राम करना ही था। करीब एक घंटे बाद उनका रसोइया खाना लेकर पहुँचा। पर वह खाना हम लोगों से खाया न गया।

सुबह करीब ५ बजे ही नींद खुल गई। जल्दी से अपने सामान लपेट हम लोग वहाँ से रवाना हो गये। जाते समय हम लोगों ने उक्त सज्जन को कष्ट देना उचित नहीं समझा। कल की घटना अभी तरोताजी थी। सुक्खी से गंगोत्री २१ मील दूर है। आज हम लोगों ने निश्चय किया कि गंगोत्री पहुँच कर ही रहेंगे। आगे मार्ग में उतार था। इधर गंगा जी का पाट करीब ३०० - ४०० फुट चौड़ा है। घाटी काफी दूर तक फैली हुई है। बीच में गंगा लहराती हुई नागिन की भाँति तिर्यक गति से बहती गई है। आगे का मार्ग सुरम्य होता गया। देवदार के वृक्ष मार्ग के दोनों ओर अपनी अनुपम सुषमा बिखेर रहे थे। चारों ओर देवदार के वृक्षों को अपने वक्ष में छिपाये, हरीतिमायुक्त पर्वत-शृंखलाएँ फैली हुई थीं और उनके पीछे हिमकिरीट धारण

किए हुए शैलशिखर मानों ध्यान मग्न योगियों की भाँति प्रतीत हो रहे थे। गंगा का कलनाद वायुमंडल में गुंजित हो रहा था। इस सुषमा को देखकर हृदय आह्लादित हो उठता था। कैसा अनुपम सौंदर्य, कैसी मनोहारिणी शोभा! आँखें बंदसी हो जातीं मानो उस सौंदर्य को अंदर बिठा लेना चाहती थीं। जब बाहर की दुनिया इतनी सौंदर्यमय है, अलौकिक शोभा से युक्त है तो उसका नियंता कितना सुन्दर न होगा, उसकी शोभा कितनी अनुपम न होगी, शायद यही देखने के लिए आँखें हृदय द्वार खोल उस विभु के दर्शन के लिए मुँद सी जातीं। अद्भुत पवित्र वातावरण छाया हुआ था। हरिनामोच्चारण अनायास ही होने लगता था। इस अनुपम वनश्री का दर्शन करते हुए हम लोग हर्सिल पहुँचे। गंगा की विस्तृत घाटी में यह छोटा सा गाँव बसा हुआ है। यहाँ पर श्यामगंगा और भागीरथी का संगम है इसलिए इसे हरिप्रयाग भी कहते हैं। लक्ष्मीनारायण का एक मंदिर भी है। यहीं सेब और अखरोट का बगीचा देखा। फूलों से सेब के वृक्ष लदे हुए थे। श्वेत पुष्पों से युक्त उनकी शोभा निराली थी। पर काश, इनमें फल भी होते! फूलों से ही तृप्ति का अनुभव करते हुए हम लोग आगे बढ़े। आगे चिरशुभ्र-हिमाच्छादित शिखरों की अद्भुत शोभा देखने में आई। करीब ग्यारह बजे हम लोग धराली पहुँचे। धराली के पास भी गंगा का पाट बहुत चौड़ा है। यहीं पर दूध-गंगा नामक नदी भागीरथी से आकर मिलती है। दूधगंगा का रंग दुग्ध की भाँति धवल और भागीरथी का

जल हरित वर्ण लिए हुए। दोनों के संगम में रंगों की यह विविधता साफ दृष्टि गोचर होती है। यहीं से एक पैदल रास्ता मानसरोवर के लिए चला गया है। सामने ही श्रीकान्त पर्वत का उत्तुंग शिखर दीख पड़ रहा था। कहा जाता है, राजा भगीरथ ने वहीं तपस्या की थी।

पसीने से हम लोग सराबोर हो गये थे। अतः सामान एक चट्टी में रखकर, हम लोग स्नान के लिए गंगा में चले आये। पर वह पानी क्या था, बर्फ था! पैर डालते ही प्रतीत होता था, मानों रक्त प्रवाह रुक गया! किसी तरह कमर भर पानी में जाकर शीघ्रता से तीन-चार डुबकी लगा आया। सेन बाबू ने पूछा, "कितना ठंडा है?" पर ठंड के कारण मेरी घिग्घी बँध गई थी। बोलने की कोशिश करने पर भी गले से आवाज नहीं निकली। मेरी हालत देख, सेनदादा हँसते हँसते बेहाल हो गए। कुछ देर के बाद जान में जान आई। सेनदादा की नासिका बाढ़ग्रस्त थी। खाँसी से परेशान थे। अतः उन्होंने स्नान द्वारा जोखिम मोल लेना उचित नहीं समझा।

धराली में भोजन करके थोड़ा विश्राम कर हम लोग एक बजे वहाँ से रवाना हो गए। यहाँ से कुछ दूरी पर मुखावा नामक स्थान में गंगोत्री के पंडे निवास करते हैं। शीतकाल में गंगोत्री से गंगाजी की प्रतिमा पास ही स्थित मार्कण्डेय स्थान में पूजा के लिए ले आई जाती है। अभी तक हम लोग मात्र नौ मील आये थे। बारह मील की दूरी और तय करनी थी। सुना था, भैरवघाटी की ६ मील की

चढ़ाई सेनाचट्टी की ही भाँति दुर्गम है। पर सेनदादा को मैंने यह बात नहीं बतलाई। मार्ग में काफी उतार-चढ़ाव था। रास्ते में चढ़ाई में दुख नहीं होता, पर दुख तब होता था जब हजार फुट की चढ़ाई चढ़ने के पश्चात् उतना ही, या उससे अधिक उतरना पड़ता और सामने वैसी ही दुस्तर चढ़ाई मुँह बाएँ खड़ी मिलती। इस चढ़ाई से हौसले पस्त होने लगे। मार्ग भी संकीर्ण हो चला था। गंगा क्रमशः गहरी घाटियों से बही जा रही थी। दोनों ओर ऊँचे ऊँचे शिखर थे और उनके बीच १५–२० फुट चौड़ी तथा सैकड़ों फुट गहरी घाटी से गंगा बह रही थी। मार्ग घाटी के किनारे किनारे था। कहीं पर मात्र १½–२ फुट चौड़ा। ऐसे स्थलों पर नीचे देखने से दिल दहल उठता था। बड़ी सावधानी से चलना पड़ रहा था। थोड़ी सी भी गफलत हुई कि गंगा की गोद में पहुँचे। यह घाटी का प्रारंभ था। पर ऐसे दिल दहलाने वाले रास्ते के बीच में दीख पड़ने वाली अनुपम सुषमा बिसारी नहीं जा सकती। लाल, पीले और सफेद रंगों के संगमर्मर की उन गहरी चट्टानों के बीच बहता हुआ गंगा का हरित जल अत्यन्त मनोहर प्रतीत हो रहा था। कहीं पर प्रपात बनाती, सिढ़ियों की भाँति बनी चट्टानों पर नर्तन करती, शिलाओं को काटती हुई हजारों फुट नीचे, तो कभी मार्ग की सतह पर गंगा अपनी अनुपम छटा दिखाते बही जा रही थी। ऐसी शोभा देखकर किंचित् समय के लिए मार्ग की दुरूहता बिसर जाती। मार्ग अब सीधी चढ़ाई का था। हर थोड़ी दूर पर विश्राम करना

पड़ता। सेन बाबू काफी पीछे रह गये थे। उनके लिये आधे घंटे तक ठहरा रहा, किंतु उनका पता नहीं था। पुनः मैंने चलना आरंभ किया कि नीचे से आवाज आई, "ओ बोरमा, एकटू दाँड़ाओ (थोड़ा ठहरो)।" मुड़कर देखा, ठीक नीचे के मार्ग में सेनदादा खड़े हैं। हाथ दिखाकर रुकने के लिए कहा। थोड़ी देर में वे हाँफते हाँफते आ पहुँचे। आकर धड़ाम से पत्थर पर बैठ गए। "उफ्, शर्बोनास, मर गिया। एखान थेके आगे जाना ना शकता। वायु छोड़ छोड़ करके उपर में चोढ़ता है। हमारा गोड़ टूट गिया भाई....।" उनकी हालत देखकर हँसते हँसते पेट फूलने लगा। उनके चेहरे में ऐसी दयनीयता थी कि देखते ही बरबस हँसी फूट पड़ती। हम लोग एक चट्टान पर बैठे थे। ऊपर वह चट्टान बाहर निकली हुई थी। नीचे हजार फुट नीचे गंगा बह रही थी। गंभीरता की मूर्ति बने सेनबाबू बैठे हुए थे। "माँ तारा, ब्रह्ममयी, हमकू भालो भावे अपना घर आपस पहुँचा दो, माँ। हम फिर इधर कभी नई आएगा माँ। हामरा छोटो छोटो लेड़का, लेड़की। उसका ऊपर कृपा करो। हे बिश्शनाथ, शिवशंभो हमरा ऊपर दया करो...।" सेनदादा तन्मय होकर प्रार्थना कर रहे थे। सुनकर हृदय द्रवित होने लगा। हजारों मील से स्वजनों को छोड़कर लोग आते हैं, सुख-सुविधा को छोड़कर, प्राणों का मोह त्यागकर, केवल इसीलिए कि श्रद्धास्पद के एक बार दर्शन हो जायँ। प्रत्येक हिन्दू की यह आकांक्षा रहती है कि वह एक बार इन पवित्र स्थलों का दर्शन कर ले।

आज से ही नहीं, हजारों वर्षों से ये स्थल भारतीय जन मानस को अनुप्राणित करते रहे हैं। और मात्र श्रद्धा ही लोगों को इधर खींच लाती है।

पाँच बजे हम लोग भैरवघाटी पहुँच गए। ऐसा लगा मानों गंगोत्री ही आ पहुँचे। यह छै मील का मार्ग तय करने में हमें चार घंटे लग गए। भैरवघाटी में भैरवनाथ का एक मंदिर है। एक धर्मशाला भी है। सुनने में आया कि आगे गंगोत्री का मार्ग विशेष कठिन नहीं है। अतः हम लोगों ने गंगोत्री पहुँचना ही उचित समझा।

(अगले अंक में समाप्य)

आत्मविश्वास की मात्रा हममें जितनी अधिक होगी उतना ही हमारा सम्बन्ध अनन्त जीवन और अनन्त शक्ति के साथ गहरा होता जायगा।

— स्वेट मार्डेन

गांधारी

किसी भी समाज के सभ्य और सुसंस्कृत होने का प्रमाण है, उस समाज के लोगों का नारियों के प्रति दृष्टिकोण एवं समाज में उनका स्थान। जिस समाज में नारी के प्रति जितना सम्माननीय दृष्टिकोण अपनाया जाता है, नारी को समाज में जितना अधिक ऊँचा स्थान दिया जाता है, वह समाज उतना ही अधिक सभ्य और सुसंस्कृत होता है। हिन्दू समाज ने अपने उत्कर्ष-काल में नारी को सम्मान का सर्वोच्च पद प्रदान किया है। महाभारत की कई नारियाँ इसका ज्वलंत प्रमाण हैं। उन्हीं में से एक के चरित्र का संक्षिप्त शब्दचित्र प्रस्तुत है।

महाभारत के नारी-पात्रों में महारानी गांधारी सौर-मंडल में सूर्य के समान देदीप्यमान हैं। उनके चरित्र की परिपूर्णता, उनकी कर्त्तव्यपरायणता, उनका स्वार्थत्याग, सहन शीलता, दूरदर्शिता, पतिपरायणता आदि सद्गुण अद्वितीय हैं।

मुल्तान-पेशावर से लेकर काबुल तक का प्रदेश किसी समय गांधार के नाम से जाना जाता था तथा वह भारत-वर्ष का ही एक भाग समझा जाता था। महाभारत-काल में सुबल नामक राजा इस भूभाग के अधिपति थे। उनकी एक अत्यंत रूप-लावण्यमयी गुणवती कन्या थी। राजकुमारी गृहकार्य में भी बड़ी दक्ष और कुशल थी। उसके रूप और

गुण की ख्याति तत्कालीन आसपास के राज्यों में फैल गयी थी।

यह सुकीर्ति हस्तिनापुर भी पहुँची। महामना भीष्म अपने अंधे भतीजे धृतराष्ट्र के लिये किसी योग्य सुलक्षणा वधू की खोज में थे, क्योंकि बड़े होने के कारण धृतराष्ट्र ही राज्य के उत्तराधिकारी थे।

भीष्म गंधार नरेश सुबल की कुलीनता से परिचित थे। उनकी कन्या की सुख्याति सुनकर उन्होंने मन ही मन निश्चय किया कि वे सुबल से अपनी कन्या का विवाह अपने भतीजे धृतराष्ट्र के साथ करने का आग्रह करेंगे। ऐसा निश्चय कर उन्होंने गंधारराज सुबल के पास उचित उपहारों सहित योग्य दूतों के द्वारा संदेश भिजवाया।

गंधाराधिपति ने जब भीष्म का संदेश सुना तब पहले तो उन्हें कुछ संकोच हुआ कि वे अपनी सुकुमार लावण्यमयी राजकुमारी का ब्याह एक अंधे राजकुमार से कैसे कर दें? किंतु दूसरी ओर कुरुकुल का महान् वैभव और उच्च कुलीनता थी। राजकुमार अंधे अवश्य हैं, किंतु उनकी पुत्री उस कुल में साक्षात् लक्ष्मी की भाँति सुखी एवं श्रीसंपन्न रहेगी। फिर कुरुवंश से संबंध होने पर उनकी स्वयं की भी तो प्रतिष्ठा बढ़ेगी। अतः उन्होंने निश्चय किया कि वे अपनी पुत्री का विवाह राजकुमार धृतराष्ट्र से कर देंगे। हस्तिनापुर के दूतों को तदनुसार स्वीकृति-संदेश दे दिया गया। वे प्रसन्नता पूर्वक हस्तिनापुर की ओर लौट चले।

राजकुमारी गांधारी को भी इस स्वीकृति की सूचना

मिली। उन्होंने नम्रता पूर्वक पिता की इच्छा से अपनी सह-मति प्रकट कर दी। उन्हें जब यह विदित हुआ कि उनके भावी पति की आँखे नहीं हैं, तभी उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि "मैं भी अपनी आँखों का उपयोग नहीं करूँगी।" उसी समय दासी से कहकर उन्होंने रेशम का एक कपड़ा मँगवाया और उसकी कई परतें कर अपनी आँखों पर बाँध लिया। उसके पश्चात् आजन्म वे अपनी आँखों पर पट्टी बाँधे रहीं। आँखें रहकर भी, पतिनिष्ठा में उन्होंने अंधत्व का कठिन जीवन वरण किया।

शुभ घड़ी देख कर गंधार कुमार शकुनि अपनी लावण्य-मयी बहिन को लेकर हस्तिनापुर पहुँचे। पितामह भीष्म ने उनका यथोचित आदर सत्कार किया तथा उनसे परा-मर्श कर विवाह का आयोजन कर दिया। विवाह निर्विघ्न और सानंद संपन्न हुआ। बहिन को श्वसुरालय में छोड़ शकुनि अपने देश गंधार लौट आये।

श्वसुरगृह में सुशीला, विदुषी गांधारी ने अपने मधुर एवं कोमल व्यवहार से सबको मोहित कर लिया। वे सदैव पतिसेवा में रत रहतीं। किंतु वे पति की अंधी भक्ति नहीं करती थीं। यथासमय पति को राजकार्यादि में उचित परामर्श देतीं एवं अन्याय का विरोध करतीं, और आव-श्यक होने पर महाराज धृतराष्ट्र से अपनी असहमति भी प्रकट कर देतीं।

दुर्बुद्धि दुर्योधन की कुमंत्रणा के कारण मोहाविष्ट धृत-राष्ट्र ने पुनः कौरवों को पाण्डवों के साथ जुआ खेलने की

अनुमति दे दी। इतना ही नहीं, उन्होंने वनगमन आदि की कुटिल शर्तों को भी स्वीकार कर लिया! महात्मा विदुर, आचार्य द्रोण, कृप तथा पितामह भीष्म आदि सभी वरिष्ठ जनों ने धृतराष्ट्र के इस अनुचित निर्णय का विरोध किया किंतु मोहांध धृतराष्ट्र पर उसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। पति की इस दुर्नीति का गांधारी समर्थन न कर सकीं। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में अपने पति को चेतावनी देते हुए कहा, "भरत कुल तिलक! आप अपने ही दोषों से इस गौरवशाली भरतकुल को कलंकित कर रहे हैं। आप अपनी अनीति से इसका नाश न कीजिये। इसे विपत्ति के सागर में न डुबोइये। अपने उद्दण्ड पुत्रों की हाँ में हाँ न मिलाइये।" इतना ही नहीं, कर्त्तव्यपरायणा गांधारी ने धृतराष्ट्र से यहाँ तक कहा कि "महाराज। आप इस मंदबुद्धि दुर्योधन का ही त्याग कर दीजिये। इसे राज्य आदि के सभी अधि· कारों से वंचित कर दीजिए।" यह थी सुबलदुहिता की स्पष्टवादिता एवं न्यायप्रियता। उसने धृतराष्ट्र को उलाहना देते हुए नीति का मार्ग बताया था और कहा था, "धर्म का पालन न करनेवाला कोई भी अशिष्ट व्यक्ति राज्य का अधिकारी नहीं हो सकता। किंतु दुष्ट दुर्योधन को राज्य मिल गया है। आपका पुत्र आपको अत्यंत प्रिय है। अतः वर्तमान परिस्थिति के लिये आप ही उत्तरदायी एवं निंदनीय हैं।"

ममता की प्रतिमूर्ति, स्नेहमयी माता के रूप में जहाँ एक ओर उन्होंने बड़े लाड़-प्यार से अपने पुत्रों को पाला,

उनके सुख-सुविधा की व्यवस्था की, वहीं दूसरी ओर निष्ठुर होकर उन्होंने अपने पुत्रों की दुष्टता और अन्याय का विरोध और प्रतिकार किया। दुर्योधन जब पाण्डवों के राज्य को हड़पने के षडयंत्र में लगा था तब गांधारी ने उसे बुलाकर बहुत फटकारा और कहा, "मूर्ख! तू समझता है, कुटिलता से प्राप्त किया हुआ राज्य और धन तेरे लिये हितकर होगा? किंतु स्मरण रख, इस प्रकार बड़ों की आज्ञा का उल्लंघन कर तू नरक में जा रहा है। अपनी दुष्टता और नीचता के कारण जब तू भीमसेन के हाथों मारा जायेगा तब तुझे पिता एवं अन्य वरिष्ठ जनों की चेतावनियों का स्मरण होगा। अब भी समय है। हठ छोड़ दे और न्याय के मार्ग पर चल।"

द्वितीय द्यूत में जब पाण्डव कष्टपूर्वक हरा दिये गए तब भी गांधारी ने दुर्योधन को समझाया था कि तू पाण्डवों को आधा राज्य दे कर संधि कर ले अन्यथा तेरा विनाश अवश्यम्भावी है।

यह थी माता गांधारी की कर्त्तव्यनिष्ठा, जो आज भी सभी माताओं के लिये आदर्श बनी हुई है। माँ का वात्सल्य और स्नेह कभी भी उनके कर्त्तव्यपूर्ति के मार्ग में बाधा न डाल सका।

महासती गांधारी के सतीत्व की आभा तप्त स्वर्ण की भाँति महाभारत को आलोकित कर रही है। उनके सतीत्व के तेज की महिमा को स्वयं भगवान् वासुदेव ने भी स्वीकार किया है।

महाभारत का नरमेध अभी ही समाप्त हुआ था। रणभूमि कुरुक्षेत्र लाशों और लोथों से पटा पड़ा था। अनेक रानियाँ और राजकुमारियाँ अपने पति, पिता, भ्राता आदि की मृत देहों को घेरकर बज्रका भी हृदय विदीर्ण कर देनेवाला दारुण विलाप कर रही थीं। उसी समय वहाँ गांधारी आईं। विधवाओं और अनाथों का वह आर्तनाद सुनकर गांधारी शोक से व्याकुल हो उठीं। वासुदेव कृष्ण वहाँ उपस्थित थे ही। गांधारी ने शोकातुर होकर कृष्ण से कहा, "वासुदेव! तुम सर्वसमर्थ हो। तुममें यह सामर्थ्य थी कि तुम कौरवों और पाण्डवों दोनों पक्षोंसे बलपूर्वक अपनी बात मनवा सकते थे। किन्तु तुमने इसकी उपेक्षा की और ऐसा नहीं किया! तुम यदि न चाहते तो यह नरसंहार कभी भी न होता। इस सारे संहार और विनाश के लिये मैं तुम्हें ही दोषी मानती हूँ। तुम ही इसके कारण हो।"

शोक संतप्त गांधारी का मन कृष्ण को मात्र दोषी ठहराकर ही शांत नहीं हुआ। शोकातुर होकर उन्होंने भगवान् कृष्ण को शाप दे डाला—"आज से छत्तीसवें वर्ष में तुम्हारे यादवकुल के लोग भी आपस में लड़ मरेंगे। तुम स्वयं असहाय और अपरिचित से होकर वन में भटकोगे और अस्वाभाविक मृत्यु से देहत्याग करोगे!"

परवर्ती काल में किस प्रकार यादवकुल का नाश और भगवान् कृष्ण की मृत्यु हुई इससे हम सभी परिचित हैं। सती गांधारी का शाप शब्दशः घटित हुआ था।

[1]महाभारत युद्ध की समाप्ति के पश्चात् गांधारी लम्बे सोलह वर्षों तक हस्तिनापुर में रहीं। इस अवधि में पाण्डवों ने उनकी बड़ी सेवा-शुश्रूषा की और उन्हें सुखी तथा प्रसन्न रखने का प्रयत्न किया। पाण्डवों की सेवा से वे अपना अधिकांश दुख भूल गईं।

सोलहवें वर्ष की समाप्ति पर गांधारी ने पति से परामर्श कर, वन में जाकर शेष जावन भगवच्चिंतन में व्यतीत करनेका निश्चय किया। महाराज धृतराष्ट्र ने भी संसार के सुख-दुख का पर्याप्त भोग कर लिया था, अतः उन्होंने भी सहर्ष स्वीकृति दे दी। अपने जेठ तथा जिठानी का निश्चय सुनकर कुन्ती ने भी उनके साथ वन को जाने का निश्चय किया। संजय और विदुर भी महाराज धृतराष्ट्र के साथ वन जाने को प्रस्तुत हो गये।

धृतराष्ट्र के वनगमन की सूचना पुरवासियों को मिली। नगर तथा निकटवर्ती ग्रामों के लोग झुण्ड के झुण्ड आ-आकर राजमहल के प्रांगण में एकत्र होने लगे। सभी के मुख उदास थे। आँखोंसे आँसुओं की धारा बह रही थी। वृद्ध धृतराष्ट्र ने इस विशाल सभा को संबोधित किया। तत्पश्चात् गांधारी ने जनसमूह को संबोधित कर अपने कुपुत्रों के दुष्कृत्यों के लिये क्षमा माँगी। उस समय उनके नेत्रों से आँसुओं की धारा बह रही थी। अपनी मातातुल्य महारानी को क्षमा माँगते और रोते देख पुरवासियोंका हृदय फट गया। सभी फूट-फूटकर रोने लगे।

1. Great women of India P.P. 172

समय हो रहा था। महात्मा विदुर ने चलने का अनुरोध किया। माता कुन्ती अत्यन्त सामान्य परिधान में सबसे आगे थीं। सभी यात्रियों ने राजकीय वस्त्राभूषण त्याग कर वन्य वल्कलपरिधान धारण कर लिये थे। कुन्ती के कंधे पर हाथ रखे सुबलसुता गांधारी चल रही थीं! गांधारी का सहारा लिये महाराज धृतराष्ट्र चल रहे थे। साथ थे अमात्य संजय और महात्मा विदुर। चल पड़े थे ये यात्री महाप्रस्थान के पथ पर, शांत और मौन!

किंतु सहस्रावधि पुरवासी नर और नारियाँ, राजमहिषियाँ और राजकुमारियाँ बिलख रही थीं अपने प्रिय जनों को अंतिम विदा देकर। नगर के बाह्य द्वार तक सभी पुरवासी और राजवंशी अपने आत्मीयों को अंतिम विदा देने गये।

वन में गांधारी अपने पति तथा कुन्ती के साथ तपस्या पूर्ण जीवन व्यतीत करने लगीं। इन लोगों ने उपवास आदि के द्वारा शरीर को कृश कर लिया था। एक दिन अकस्मात् वन में बड़वानल भड़क उठा। अग्नि की लपलपाती जिह्वाएँ तरु-गुल्म, पशु-पक्षी सभी को भस्म करने लगीं। गांधारी अपने पति और देवरानी के साथ शांतभाव से अपनी कुटिया में उसका ध्यान करने बैठ गयीं, जिसे न आग जला सकती है, न जल भिगा सकता है और न वायु सुखा सकती है। अग्नि की शिखाओं ने शीघ्र ही इन तपस्वियों को अपने क्रोड़ में ले लिया और उनका नश्वर शरीर पंचतत्त्व में मिल गया। किंतु उनके चरित्र की कीर्तिशिखा आज भी जल रही है शत-शत नारियों का जीवन आलोकित करने।

श्रीरामकृष्ण का आगमन क्यों ?

ब्रह्मचारी महेश, रामकृष्ण मिशन, नई दिल्ली

"ब्रह्मज्ञान की भले ही मर्यादा हो, पर श्रीरामकृष्ण के अगम्य भावों की कोई भी मर्यादा नहीं ...."

—विवेकानन्द

भौतिकवाद की आँधी में भारतीय परम्परा उड़ती जा रही थी और आध्यात्मिक सम्पदा के खज़ाने दबे जा रहे थे। स्वार्थप्रियता और भोगविलासिता के तूफानी झंझावात में भारतीय तरुण छात्रों के हृदय उलझते जा रहे थे। सदियों से ऋषियों द्वारा निर्मित आत्मज्ञान की नगरी उजड़ने लगी थी। समस्त दिशाओं से हाहाकार और दिल दहलाने वाला चीत्कार सुन पड़ता था।

किन्तु यह बवन्डर, अधिक समय तक न टिक सका। विधाता ने जलपूर्ण मेघ से आकाश को आच्छादित कर दिया जो समय पाकर बरस पड़े और आँधी में उड़ते धूल-कणों को बिठा दिया। इस मेघसमूह से हमारा तात्पर्य है श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द से, जिन्होंने मृत्यु और जीवन के इस सन्धिक्षण में वेदों की अमृतमयी वाणी द्वारा पवित्र प्रेम की वर्षा कर युग की आवश्यकता पूरी कर दी।

मानव के आध्यात्मिक इतिहास में श्रीरामकृष्ण देव का अवतरण एक अद्वितीय घटना है। उस युग में जब

पाश्चात्य भौतिकवाद की बाढ़ में भारत की सनातन आध्यात्मिक सम्पदा बही जा रही थी; संस्कृति और धार्मिक परम्परा की नींव हिलगई थी, श्रीरामकृष्ण का ईश्वर-प्राप्ति के लिए अलौकिक रूप से व्याकुल होना तथा अल्पकाल में ही ईश्वर दर्शन कर लेना विश्व के इतिहास में अतुलनीय है।

१६ वीं शताब्दी में इन्द्रियलोलुप, भोगविलासी, इन्द्रिय-जन्य-सुख को ही जीवन का उद्देश्य माननेवाले, काम-कांचन के पुजारियों ने जब नश्वर वस्तुओं की तड़क-भड़क भारतवासियों की दृष्टि के सामने रख दी तो ऋषिपुत्रों की आँखें चौंधिया गईं तथा चौंधियाई आँखों से वे बरबस ही विनाश के पथ पर चल पड़े। पश्चिम ने राम और कृष्ण की संतानों के हृदय में संसय की लहरें दौड़ा दी। उसने प्रमाणित कर दिया कि भारतीय जंगली हैं और खोखले ध्येय के पीछे वर्षों से अपना जीवन और समय नष्ट कर रहे हैं। विश्वविद्यालय के तरुण छात्रों के हृदय अपने पूर्वजों को कोसने लगे तथा पश्चिम को अपना गुरू मान के उसका अनुसरण करने लगे। वे तत्त्वज्ञान, गुरु, देवता, ईश्वर, परमात्मा आदिको कवियों की कोरी कल्पना मानने लगे; आत्मविश्वासहीन हो प्रतिमा-पूजन, ध्यान-भजन, त्याग-तपस्या को कुसंस्कार समझने लगे। वे आत्म-विस्मृत हो दूसरों पर निर्भर होने लगे और दूसरों की नकल कर जड़वादी बनने लगे। अमृतपुत्र होकर भी मानव मृत्यु से भयभीत हो काँपने लगा था। सिंहपुत्र होकर वह बकरी

की नाईं मिमिया रहा था ; कायर की भाँति झाड़ियों में छिप रहा था कि ऐसे समय श्रीरामकृष्ण देव की वाणी से अनुप्रेरित होकर स्वामी विवेकानन्द ने सिंहनाद किया। वेदान्त का ऐसा मन्त्र हमारे कानों में फूँक दिया कि हमें अपनी भूली हुई चिरंतन शपथें फिर से याद करते देर न लगी। क्या धर्म, क्या राजनीति, क्या साहित्य, क्या संस्कृति सभी क्षेत्रों में उत्थान की एक प्रबल बाढ़ आई जिसने सुप्त मानव को जागृत कर फिर से चैतन्य किया।

श्रीरामकृष्ण के जीवन तथा उपदेशों में सर्वजनीन धर्म के मूल सूत्र तथा आध्यात्मिक जीवन मूर्तिमान है। उनके जीवन से प्रमाणित है जीवात्मा-परमात्मा की सत्ता, प्रेम और व्याकुलता द्वारा किसी भी एक धर्म से ईश्वर की सुलभता तथा ईश्वर प्राप्ति को जीवन का उद्देश्य मानने की दृढ़ता। ऐसे ही महान् पुरुष की युग को आवश्यकता थी। उन्होंने आकर वर्तमान युग के संशय-जाल को छिन्न-भिन्न किया और युग-युगान्तर की जटिल समस्याओं का समाधान किया। १२ वर्ष की कठोर साधना द्वारा, अलौकिक त्याग और तपस्या के बल पर, उन्होंने सभी धर्मों और शास्त्रों के सत्यों को अपने जीवन में उपलब्ध किया और इस प्रकार गुरु पद पर आरूढ़ हो अस्तव्यस्त मानवजाति के लिये एक उदार आदर्श स्थापित किया। अविश्वास और नास्तिकता की बनी ऊँची मंज़िलें कुछ ही समय में धराशायी हो गईं। गाँधीजी ने कहा है, "श्रीरामकृष्ण परमहंस का जीवन-वृत्तांत धर्म के व्यावहारिक आचरण

का विवरण है। उनका जीवन-चरित्र हमें ईश्वर को अपने सामने प्रत्यक्ष देखने की शक्ति देता है······।"

इस बार उनका आगमन हुआ भोगान्ध मानव के हृदय में विराजित रावणत्व की समाप्ति के लिये तथा खोई हुई शान्ति को फिर से पाने का उपाय बताने के लिये। भारत ही इस बार भी अध्यात्म की स्थापना का केन्द्र बना। उनके आगमन से पुनः भारत से आध्यात्मिकता की धारा बह चली। प्रथम बार मंच पर खड़े होकर जिस विश्व-बन्धुत्व की ध्वनि से स्वामी विवेकानन्द ने शिकागो को केन्द्र बनाकर समूचे पश्चिम के वायुमण्डल को गुँजा दिया था, जिसकी प्रतिध्वनि आज अधिक शक्ति से समस्त विश्व को गुँजा रही है; वह ध्वनि सबसे पहले श्रीरामकृष्ण देव के मुख से ही निकली थी। जिस अद्वैतवाद की गम्भीर गर्जना से नरकेसरी विवेकानन्द ने विश्व-विजय पाई तथा समस्त विश्वको विस्मित कर दिया वह गर्जना श्रीरामकृष्ण देव की कृपा से ही निःसृत हुई थी। तभी तो स्वामी विवेकानन्द कहते थे, "श्रीरामकृष्ण के कृपाकटाक्ष से एक क्यों, लाखों विवेकानन्द अभी उत्पन्न हो सकते हैं!"

श्रीरामकृष्ण देव ने बारह वर्षों की कठोर साधनाओं के द्वारा सभी पथों से होकर ईश्वर की प्राप्ति की और अपनी इस अनुभूति को 'जितने मत उतने पथ' कहकर व्यक्त किया। उनका सभी धर्मों से समान प्रेम था। ब्राह्मसमाजी उनको अपना परम प्रेमी जानकर सिर नवाते, वैष्णव उनको वैष्णवकुल-भूषण मानकर अगाध श्रद्धा प्रदर्शित करते,

योगी उन्हें अनन्त विभूतिसम्पन्न देखते, शैव उन्हें जीव में शिव का अनुभव करने वाले देखते, शाक्त उन्हें शक्ति-उपासक जान विशेष सम्मान देते तथा वेदान्ती उनको ब्रह्म-निष्ठ, मुक्तिमन्त्र दाता गुरू मान उनके पास ज्ञान प्राप्त करने आते। उन्होंने वेदवाणी 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' को जीवन में प्रत्यक्ष किया था। तभी तो वे कहते, "जिस प्रकार एकोआ (aqua), वाटर, पानी, जल सभी नामों से एक जल को ही समझा जाता है, वैसे ही गाड (God), ईश्वर, अल्ला आदि नामों से एक ही ईश्वर को समझा जाता है।" उनकी यह सर्वधर्मसमन्वय वाणी आज धार्मिक विरोध से भरे हुए संसार में शान्ति का वर्षण करने वाली है।

चैतन्य महाप्रभु ने तीन आदेश अपने शिष्यों को दिये-१) जीवेदया (जीव पर दया), (२) नामे रुचि (नाम में रुचि), (३) साधू-संग; किन्तु श्रीरामकृष्ण ने 'जीव-दया' की जगह 'शिव-सेवा' नाम रखा। वे कहते, "जीव तो तुम्हारी दया का भिखारी नहीं है—समस्त आत्मा ही ब्रह्म जो है। प्रति आत्मा में शिव ही हैं। उन्हीं की सेवा करो। यह प्रतीति न होने तक संसार से मुक्ति नहीं।" आध्यात्मिक उच्चावस्था रहने के कारण यद्यपि वे स्वयं दरिद्रनारायण सेवा न कर सके परन्तु उस कार्य को कराने के लिये वे स्वामी विवेकानन्द को अपने साथ लाना न भूले थे। तभी तो स्वामीजी के निर्विकल्प समाधि माँगने पर उन्होंने कहा था, "छिः! छिः! तू क्या इतना क्षुद्र है? मैंने तो सोचा

था कि तू हज़ारों तड़पते प्राणियों को अपनी छाया में शान्ति देने वाला विशाल वृक्ष बनेगा। समाधि तो छोटी वस्तु है।" उनके ही संकल्प से स्वामी विवेकानन्द चिदानन्द-रस में न डूब सके और जन-सेवा में नियुक्त हुए। पहले जब विवेकानन्द ने इसका प्रतिवाद किया था तो श्रीरामकृष्ण ने उनसे कहा था, "तू क्या कहता है! माँ अपना कार्य तेरी हड्डियों से करायेगी।" "भगवान् क्या मनुष्य-देहरूपी चलते-फिरते मन्दिरों में नहीं है?" उनके पास वेदान्त सिद्धान्त रूप में ही न था बल्कि वे थे वेदान्त की ज्वलन्त मूर्ति। उनके जीवन से सिद्ध होता है कि मनुष्य में देवत्व निहित है। प्रत्येक जीव, नर-नारी, चाहे वह किसी भी जाति, वर्ण या आश्रम का हो, अव्यक्त ब्रह्म ही है, जो उपाधि से भिन्न दीखते हुए भी वस्तुतः एक ही है; जैसे सूर्य एक होते हुए भी बादलों की गहनता के कारण भिन्न भिन्न रूप में दीखता है। सभी को उस ब्रह्म की अभिव्यक्ति करने का अधिकार है। और यही जीवन का एकमात्र उद्देश्य है।

प्रत्येक नारी उनके लिये जगदम्बा थी और प्रत्येक योनि मातृयोनि। इसलिये तो उन्होंने अपनी पत्नी श्रीसारदा देवी को जगदम्बा के रूप में पूजा था। छः महीने अपनी पत्नी के साथ एक ही शैय्या पर सोते हुए भी उनमें काम भाव जाग्रत् न हुआ। 'काम' और 'कांचन' इन दो के त्याग का ही वे उपदेश कर गये हैं।

अद्वैत भाव की चरम सीमा पर वे पहुँच गये थे। गंगातट पर पिटते हुए मल्लाह के साथ उनका इतना एकीभाव

हो गया कि वे कष्ट से कराह उठे और उनकी पीठ पर मार का निशान भी अपने आप पड़ गया ! घास के साथ इतना एकत्व हो गया कि किसी के घास पर चलने से उन्हें ऐसा लगने लगा, मानो वह उनकी छाती को रौंद रहा हो !

उनका अवतरण और तिरोधान यद्यपि दोनों ही अतीत में लीन हो चुके हैं, परन्तु उनकी जीवन लीला युगों तक संसार-अरण्य में भटके हुए लोगों को शाश्वत पथ का निर्देश देती रहेगी। स्वामी विवेकानन्द जी का कथन है कि श्रीरामकृष्ण के अवतरण के साथ ही सतयुग का आरम्भ हो चुका है।

मैं नरक में भी उत्तम पुस्तकों का स्वागत करूँगा, क्योंकि इनमें वह शक्ति है कि जहाँ ये होंगी वहाँ आप ही स्वर्ग बन जायगा।

— लोकमान्य तिलक

अँधा कुआँ

श्री संतोष कुमार झा

(१)

उस युग में न तो आज की भाँति रेल और मोटर-गाड़ियाँ थीं, न ही पक्की और सुन्दर सड़कें, और न मार्ग दर्शिका पट्टियाँ और मील के पत्थर। पैदल पग-डण्डियों पर चलना ही उस युग का साधन था।

कोई एक ब्राह्मण नितांत अकेले किसी वन मार्ग से होकर जा रहा था। वन गहन था और पथ अनजाना और अस्पष्ट। पथिक उस दुर्गम वन में भटक गया। वह स्थान अत्यंत दुरूह था। बटोही को इसका मान तब हुआ जब उसने देखा कि वन गहन से गहन तर होता जा रहा है। उसने अपनी गति और तीव्र कर दी, किन्तु वह और भी अधिक गहन वन में जा फँसा।

चारों ओर से रह-रहकर भयानक हिंसक पशुओं की दिल दहला देने वाली आवाजें आ रही थीं। कभी वन सिंह की गर्जना से काँप उठता, तो कभी दिशाओं को विदीर्ण करने वाली हाथियों की चिंघाड़ मानो वन को झकझोर देती।

उस भयंकर स्थल में पहुँच कर निरीह ब्राह्मण का हृदय काँप उठा। भयातुर बटोही दिग्भ्रान्त हो इधर उधर भागने लगा। कदाचित् कहीं कोई शरणस्थल मिल जाय; हो न हो उस वन से बाहर भागने का कोई मार्ग सूझ जाय!

किंतु विधि की विडम्बना ! न तो उसे कोई शरणस्थल ही प्राप्त हो सका और न उस वन से बाहर निकलने का कोई मार्ग ही उसे मिल सका।

अकस्मात् उसकी दृष्टि वन की सीमा-सी प्रतीत होने वाले एक भाग पर पड़ी। किंतु यह क्या ? वह विशाल वन एक बड़े जाल से ढका हुआ है तथा एक बीभत्स स्त्री ने उसे अपनी दृढ़ भुजाओं में जकड़ रखा है। यह विचि दृश्य देखकर ब्राह्मण भय से विक्षिप्त सा हो उठा और शीघ्र ही वहाँ से भागने का प्रयत्न करने लगा।

वहाँ पास ही एक अँधा कुआँ था, जो जंगली लताओं से ढँके होने के कारण दीख नहीं रहा था। भागने के प्रयत्न में ब्राह्मण थोड़ी दूर आगे जाकर उस अँधे कुएँ में गिर पड़ा। नियति के नियंत्रण की परिधि में दिक्-काल सहित समस्त ब्रह्माण्ड परिचालित है। पथिक कुएँ के तल में न गिरकर उन लताओं में फँसकर उल्टा लटक गया, जिन्होंने कुएँ को आच्छादित कर रखा था।

कुछ क्षणों के लिये तो पथिक अचेत सा हो गया। जब उसकी चेतना लौटी तो उसने देखा कि एक मोटी लता के सहारे लटका हुआ है। इतने में ही उसकी दृष्टि कुएँ के नीचे पड़ी। वह चीख उठा ! उसने देखा, वहाँ एक विकराल विषधर फन फैलाए बैठा है। मानों इस प्रतिज्ञा में है कि जैसे ही वह निरीह ब्राह्मण नीचे गिरे, वह उसे निगल जाय।

उसने भय से आँखे मींच लीं। कुछ क्षणों पश्चात् जब उसने पुनः आँखे खोलीं तो ऊपर का दृश्य देखकर उसका

हृदय भय से विदीर्ण हो उठा। उसने देखा कि एक विशाल काय हाथी निरंतर उस कुएँ की ओर बढ़ता चला आ रहा है। उस विचित्र हाथी के छः मुँह हैं और वह बारह पैरों से चल रहा है।

अभी हाथी के भय से वह काँप ही रहा था कि उसकी दृष्टि उस लता पर पड़ी जिसके सहारे वह लटका हुआ था। दृष्टि पड़ते ही वह भय से चीत्कार कर उठा। देखता क्या है कि उस लता की जड़ को काले और सफेद रंग के चूहे निरंतर काटते चले जा रहे हैं। न मालूम कब लता कट जाय और वह उस विकराल कालसर्प के मुँह में समा जाय। यह दृश्य देखकर वह विक्षिप्त सा हो उठा।

कुएँ की लताओं में अनेक मधुमक्खियों के छत्ते लगे थे, जिनमें तीव्र डंक मारने वाली असंख्य मधुमक्खियाँ बैठी थीं। उन छत्तों से निरंतर बूँद-बूँद करके मधु झर रहा था। पथभ्रांत पथिक का कंठ क्लांति और भय से सूख गया था। आश्चर्य है! उस त्रिकट विपत्ति में फँसा वह पथिक निरंतर उन मधु-बूँदों का पान कर रहा था।

(२)

विदुर के मुँह से उस निरीह ब्राह्मण की दुर्दशा सुनकर महाराज धृतराष्ट्र का हृदय द्रवित हो उठा। उन्होंने विदुर से कहा, "विदुर! कहाँ है वह देश? किस दिशा में है वह दुर्गम वन। शीघ्र बताओ। हम उस ब्राह्मण की मुक्ति का उपाय करेंगे। उसके दुख से हमारा मन व्याकुल हो रहा है।"

विदुर ने सहास्य उत्तर दिया, "महाराज ! मनीषियों द्वारा उद्धृत यह एक दृष्टांत है। इसे भलीभाँति समझ लेने पर मनुष्य को सन्मार्ग पर अग्रसर होने की प्रेरणा मिलती है और अन्त में वह सभी दुखों से मुक्त हो परम आनन्द में अवस्थित हो जाता है।"

धृतराष्ट्र ने उत्सुकता पूर्वक कहा, "अच्छा विदुर ! शीघ्र ही तुम हमें इस कथा का मर्म समझाओ।"

विदुर ने निवेदन किया, "महाराज ! जिसे दुर्गम स्थल कहा गया है, वह यह संसार ही है। भयंकर वन, संसार के ही जटिल स्वरूप की उपमा है। वन की सीमा पर जो भयंकर नारी खड़ी है, उसे मनीषियों ने रूप और कांति की नाशक वृद्धावस्था कहा है। अन्धे कुएँ की उपमा शरीर के लिये है, जिसमें गिरकर अज्ञान के कारण आत्मा फँसी हुई है। कुएँ के भीतर बैठा विशाल विषधर काल (समय) का द्योतक है। कुएँ पर आच्छादित लता, जिसके सहारे ब्राह्मण लटक रहा है, मनुष्य के जीवन की आशा है।

राजन् कुएँ के ऊपर छः मुखवाला हाथी जो निरंतर आगे बढ़ रहा है, संवत्सर की सूचना देता है। वर्ष की छः ऋतुएँ ही उसके छः मुख हैं। बारह महीने, उसके बारह पैर हैं।

काले और सफेद रंग के चूहे जो जीवनलता को सतत काट रहे हैं, दिन और रात्रि के सूचक हैं। मधुमक्खियाँ हमारी अनन्त कामनाओं की प्रतीक हैं। मधु की टपकती बूँदें कामनाओं की क्षणिक पूर्ति से होनेवाले आनन्द की

ओर इंगित करती हैं। यह ऐसा कमनीय रस है जिसमें सभी व्यक्ति डूब जाते हैं।

किन्तु जो विवेकशील व्यक्ति हैं, वे ज्ञान और वैराग्य के शस्त्र से इस भयावह संसार के बन्धनों को काटकर सदैव के लिये दुखों के पार हो जाते हैं।

(३)

उपर्युक्त दृष्टांत के द्वारा महात्मा विदुर ने शोकाकुल धृतराष्ट्र के विवेक को जगाने का प्रयत्न किया था।

संसार के संयोग-वियोग, सुख-दुख, लाभ-हानि, मान-अपमान, सफलता-असफलता, यश-अपयश, आशा-निराशा, हमें निरंतर व्यग्र, व्यथित, व्याकुल और प्रताड़ित करते रहते हैं। क्या हमारी स्थिति उस ब्राह्मण से कम निरीह है? क्षण-क्षण आयु शेष होती जा रही है, किन्तु हम निरन्तर भागे जा रहे हैं गहनसे गहनतर, जटिल से जटिलतर संसार-अरण्य की ओर।

क्षण भर रुककर देखें; विचार करें! संसार-अरण्य में हमें कहीं शरण नहीं प्राप्त हो सकती। यहाँ कोई स्थान सुरक्षित नहीं है। तब क्या इस घोर अरण्य से बाहर निकलने का कोई मार्ग नहीं है? क्या हमें सदैव इस अंध कूप में पड़े रहना होगा?

नहीं, उपाय अवश्य है। कुछ क्षण शांत होकर विवेक की आवाज सुनें। उसके बताये हुए पथ का दृढ़तापूर्वक अनुसरण करें तो अवश्य ही हम इस अंधे कुएँ से बाहर निकलकर सभी दुखों से त्राण पा सकते हैं।

वीर शिवाजी का व्यक्तित्व

डा० त्रेनानाथ तिवारी

स्वातन्त्र्य-प्राप्ति के पूर्व भारतीय बालकों के मन में यह धारणा कूट-कूटकर बिठा दी गई थी कि शिवाजी एक "चतुर शक्तिशाली डाकू एवं सफल विद्रोही मात्र" थे। किंतु सुयोग्य भारतीय इतिहासकारों ने इस विचारधारा को उपहासास्पद एवं मिथ्या सिद्ध कर दिया है। शिवाजी एक "आदर्श गृहस्थ, अनुकरणीय शासक एवं अद्वितीय राज्य निर्माता" थे। उनकी गणना संसार के महापुरुषों में की जाती है। उनका व्यक्तिगत जीवन आलस्य एवं दुर्गुणों से नितान्त शून्य था। उस प्राचीन काल में भी वे अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति अतीव सहिष्णु थे। उन्होंने भारत में अपने युग की तीन बड़ी एवं विरोधी शक्तियों से सफलता पूर्वक लोहा लिया। ये थीं मुगल साम्राज्य, बीजापुर राज्य एवं पुर्तगाली सशस्त्र व्यापारी। अगणित कठिनाइयों का सामना करके उन्होंने अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित किया और उसकी नींव दृढ़ की। अपने कालके वे सर्वश्रेष्ठ रचनात्मक प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति थे। उनके जीवन की स्मृति हमारे सम्मुख आज अनुपम आदर्श एवं देन के रूप में उपलब्ध है।

शिवाजी का जन्म भोंसले वंश में सन् १६२७ में हुआ। किले की अधिष्ठात्री देवी शिवा भवानी के प्रसाद-रूप में

इन्हें प्राप्त करने के कारण माता जीजाबाई ने इनका नाम "शिव" रख दिया, जो मराठी संबोधन के रूप में शिवा प्रसिद्ध हो गया। आपके पिता अपनी दूसरी धर्मपत्नी तुकाबाई के साथ मैसूर में रहते एवं बीजापुर राज्य की नौकरी करते थे। इस कारण माता जीजाबाई का मन धर्म-प्रधान हो गया और उनके धार्मिक भावों की शिवाजी के मन पर गहरी छाप पड़ी। साथ में भाई, बहिन, पिता आदि न होने से माता-पुत्र में बहुत हार्दिक स्नेह एवं घनिष्ठता हो गई और शिवाजी माँ को देवी तुल्य मानने लगे। वे बचपन से अपना काम आपही करना एवं जिम्मेदारी से निभाना सीख गये थे। वे जंगल-जंगल घूमते और साधारण जनता के निकट सम्पर्क में आते रहते। इस प्रकार चरित्र की दृढ़ता, मनोबल, स्वावलम्बन, आत्मनिर्भरता, परिश्रम आदि सद्गुण उनमें आपही आप विकसित होकर दृढ़मूल होने लगे। आपके पिता ने दादाजी कोंडदेव नामक एक चतुर एवं सच्चरित्र ब्राह्मण को अपनी पूना की जागीर का कार्यभारी नियुक्त किया और शिवाजी और उनकी माता को इन्हीं की देख-रेख में रख दिया। कोंडदेव ने पूने की गिरी हुई जागीर की बहुत उन्नति की। अपनी कड़ी देख रेख और पक्षपातहीन न्यायशीलता द्वारा उन्होंने उसे अन्यायियों और डाकुओं से मुक्त किया तथा जंगली भेड़ियों का नाश कर जमीन को खेती के योग्य बनाया और बस्तियाँ बसाईं। नियम के वे बड़े पक्के थे।

शिवाजी निरक्षर थे किंतु आपने रामायण, महाभारत

एवं पुराणों की कथा और कीर्तन सुन-सुनकर भारत के प्राचीन ज्ञान, धर्म और जीवन के रहस्य की उत्तम जानकारी प्राप्त की थी तथा इन्हीं के द्वारा वे राजनीति, धर्मनीति, रणचातुरी और राजकाज में पारंगत हो गये। कथा-कीर्तन में वे सर्वत्र उपस्थित होते और तन्मय होकर सुनते। योग्य साधु-संन्यासियों तथा पीरों से भी वे उपदेश ग्रहण करते थे। इस प्रकार शिक्षा का मुख्य फल चरित्र-निर्माण उनमें पूर्ण रूपेण विकसितहुआ था।

दादाजी ने शाहजी की जागीर बहुत बढ़ाई। उन्होंने मावल प्रदेश पर भी कब्जा किया। यहाँ के आदमी दुबले-पतले किंतु बहुत गठीले एवं फुर्तीले होते हैं। इसी मावल के निवासी शिवाजी की सेना के सर्वश्रेष्ठ सिपाही सिद्ध हुए। यहीं के लोग उनके बचपन के साथी एवं स्वामिभक्त नौकर थे। इनमें घूमते-घूमते शिवाजी बड़े परिश्रमी और कष्ट सहिष्णु होगये तथा उन्हें देशवासियों के हृदय से घनिष्ठ परिचय प्राप्त हो गया। इन गरीब और निर्जीव देहातियों में शिवाजी के नेतृत्व ने प्राण फूँक दिये।

सत् शास्त्र श्रवण और अपनी माता के संन्यासिनी तुल्य जीवन का आदर्श सम्मुख देखकर तथा उनके उपदेश सुन-सुनकर शिवाजी के मन में सात्विक भाव, दृढ़ता और धर्मप्रेम उत्पन्न हुआ और वे स्वतंत्र जीवन के आराधक बन गये। किसी मुसलमान राजा की आधीनता में जीवन यापन उन्हें विषतुल्य एवं घृणास्पद जान पड़ने लगा। पहले स्वाधीन राज्य स्थापित करने की वृत्ति एवं तत्पश्चात्

समस्त हिन्दू जाति के उद्धार की अभिलाषा उनके मन में दृढ़मूल होने लगी।

एक दिन पिता शाहजी उन्हें बीजापुर दरबार में ले गये। वहाँ एक के पश्चात् एक सभी दरबारियों ने सिंहासन के सम्मुख साष्टांग प्रणिपात किया। शाहजी ने भी यही किया किन्तु शिवाजी ने साधारण नमस्कार किया और समझाने-बुझानेपर भी दण्डवत् प्रणाम करना स्वीकार न किया। पहले तो दरबारियों ने इसे देहातीपन समझा किंतु शीघ्र ही स्पष्ट हो गया कि यह महान् धृष्टता थी। शाहजी के लिये यह बड़ा भारी संकट आ उपस्थित हुआ। तत्कालीन रूढ़ि के अनुसार तो उन्हें कड़ा दण्ड प्राप्त होता किंतु वे नवाब के बड़े कृपापात्र थे इस कारण क्षमा मिल गई।

शाहजी स्वयं अहमदनगरके गढ़ और परगने को जीत कर छोटा सा स्वाधीन राज्य स्थापित करनेके प्रयत्न में थे। कोंडदेव को भी वे यत्र-तत्र विजययात्रा में भेजा करते थे। बाद में कोंडदेव का विजित कोंडाना अर्थात् सिंहगढ़ का किला शाहजी के हाथ में आनेपर उन्होंने उसे शिवाजी को दे दिया।

दादाजी कोंडदेव का देहान्त होने के कारण शिवाजी को बीस वर्ष की आयु में ही अपना कार्य भार स्वयं सँभालना पड़ा। तथापि वे अब तक युद्धविद्या और जमींदारी के संचालन में निपुण हो गये थे। प्रजा एवं सेना के सिपाहियोंसे उनका घनिष्ठ परिचय और सम्बन्ध रहता था। सेवकों और सरदारों से वे उत्तम रीति से काम ले

सकते थे। उनके नौकर बड़े बुद्धिमान् एवं स्वामिभक्त थे। बीजापुर राज्य के कमजोर होने के लक्षण प्रकट होनेपर शिवाजी ने तोरणा गढ़ ले लिया और नया राजगढ़ किला स्थापित किया। फिर पास की समतल भूमि को दीवारों से घेरकर रक्षित ग्राम बसाये। धीरे-धीरे आपने अपनी अन्य जागीरों को भी संगठित कर लिया। कुछ अन्य किलों के स्वामियों ने भी आपकी आधीनता स्वीकार कर ली। इस प्रकार आपके राज्य की सीमा बढ़ने लगी।

बीजापुर राज्य की नाराजगी से शाहजी को अचानक बन्दी बनना पड़ा। उन्हें छुड़ाने के लिए शिवाजी को एक-दो किले खाली करने पड़े किन्तु बादमें पुनः आप अपने राज्यविस्तार के कार्य में जुटे रहे। कई किले जीतकर आपने प्रतापगढ़ में एक नया किला बनाया और वहाँ अपनी इष्ट देवी भवानी की मूर्ति स्थापित की।

बीजापुर के आधीन मुल्ला अहमद नामक एक अरब रईस कल्याण प्रदेश पर शासन करता था। शिवाजी के सेनापति आवाजी सोनदेव ने इस प्रदेश पर अधिकार कर, मुल्ला को नवयुवती सुन्दरी पुत्रवधू को कैद कर शिवाजीके पास भेंट स्वरूप भेजा। किन्तु शिवाजी ने उसे देखकर माँ कहकर सम्बोधित किया और कहा, "यदि मेरी माता ऐसी ही सुन्दरी होती तो बड़े ही आनन्द की बात हुई होती और मैं भी सुन्दर हुआ रहता।" तत्पश्चात् उन्होंने उसे कपड़े-गहनों सहित उसके श्वसुर के पास भिजवा दिया। सुनने वाले आश्चर्यान्वित हो गये क्योंकि उस युग में यह अनहोनी

बात थी ।

अफ़जल खाँ से मुठभेड़ होने के पूर्व शिवाजी उसकी रणचातुरी एवं बड़ी फौज का विचार कर निराश से हो रहे थे । स्वप्न में भवानी ने दर्शन दे वरदान दिया, "बच्चा ! तू डर मत, मैं तेरी रक्षा करूँगी । तू अफ़जलपर चढ़ाई कर । तेरी ही जय होगी ।" शिवाजी में शौर्य जाग उठा । सामन्तों ने भी उत्साहपूर्वक लड़ने की राय दी । माता जीजाबाई ने भी आशीर्वाद देकर भविष्यवाणी की, "तेरी ही जय होगी ।" छत्रपति अभिषिक्त होकर जब शिवाजी ने श्री शैल में देवी के दर्शन किये तो वे गद्गद् होकर अपना मस्तक ही तलवार से उतार कर चढ़ाने को प्रस्तुत हो गये । भगवती ने साक्षात् प्रकट हो उनकी तलवार छीन फेंकी और बोलीं, "इस उपाय से तुझे मोक्ष न मिलेगा । ऐसा काम मत करना । तेरे ऊपर अब भी बहुत से बड़े-बड़े कार्यों का भार है ।"

शिवाजी की रणसेना के साथ औरतें, दासियाँ अथवा नर्तकियाँ न जा सकती थीं । इस नियम का भंग करनेवालों को प्राणदण्ड दिया जाता था । उनका आदेश था—शत्रु देश की स्त्रियों और बच्चों को मत पकड़ो । केवल पुरुषों को ही बन्दी बनाओ । गायें मत पकड़ो । बोझा ढोने को बैल पकड़ सकते हो । ब्राह्मणों पर अत्याचार मत करो । उन्हें जमानती मत बनाओ । कोई कुकर्म न करो ।

राज्य में जहाँ-जहाँ देव मन्दिर थे, शिवाजी सर्वत्र दीप नैवेद्य और नित्य पूजापाठका प्रबन्ध करा देते थे । मुसल-

मान पीरों के स्थानों और मस्जिदों में भी दिये जलाने के लिये स्थान की परम्परानुसार धन की सहायता देते थे। वेदज्ञ एवं कर्मठ ब्राह्मणों तथा ज्योतिषी, अनुष्ठानी, तपस्वी एवं सत्पुरुष ब्राह्मणों के कुटुम्ब को आवश्यकतानुसार भूमि दी जाती थी और प्रति वर्ष उनके पास अन्न-वस्त्र पहुँचा देने का भी प्रबन्ध राज्य की ओर से रहता था। लुप्त वेद चर्चा शिवाजी के राज्य में पुनः जाग उठी। वेदपाठियों को विशेष रूप से वार्षिक अन्नदान दिया जाता था।

शिवाजी के गुरु समर्थ रामदास महाराज थे। आप सदा भिक्षाटन से निर्वाह करते थे। एक दिन शिवाजी ने सोचा कि गुरुजी को सेवा में तो हमने बहुत कुछ दिया है, उन्हें भिक्षाटन क्यों करना चाहिए। इस विचार से उन्होंने अपने सम्पूर्ण राज्य एवं कोष का एक दानपत्र तैयार कर, उस पर राजकीय मुहर लगाकर उसे महाराज के चरणों में अर्पित कर दिया, किंतु महाराज ने कहा, "हमने सब ले लिया, अब तुम हमारे गुमाश्ता की नाईं राज्य चलाओ। यह तुम्हारे भोग-विलास की सामग्री न रही। तुम्हारे ऊपर वह बड़ा मालिक है। उसी के विश्वस्त सेवक की नाईं कार्य भार चलाओ।" संन्यासी स्वामी का गेरुवा वस्त्र तभी से राज्य का 'भगवा झंडा' बना।

एक बार शिवाजी ने राज्य त्यागकर महाराज के चरणों की सेवा में जीवन यापन की प्रार्थना की। किन्तु महाराज ने कहा, "तुम कर्मवीर क्षत्रीय हो। तुम्हारा काम है देश और प्रजा की विपत्ति से रक्षा करना और देव-

ब्राह्मणों की सेवा करना। तुम्हारे योग्य बहुत काम पड़ा है। म्लेच्छों ने देश पर पूर्ण आधिपत्य जमा लिया है। उनसे देश का उद्धार करो और श्रीकृष्ण भगवान् के दिये उपदेशानुसार चलो।" कविता में लिखकर भेजा हुआ शिवाजी के नामका उनका एक पत्र महाराष्ट्र में प्रसिद्ध है—"हे निश्चय के महामेरु! अनेक लोगों के सहायक, दृढ़-प्रतिज्ञ, जितेन्द्रिय, दानवीर, अतुलगुण सम्पन्न, नरपति, गज-पति, अश्वपति, समुद्र और पृथ्वी के अधीश्वर, सदा प्रबल विजयी, प्रसिद्ध धर्मवीर! पृथ्वी डाँवाडोल हो रही है, धर्म का लोप हो गया है। गो, ब्राह्मण, देवता और धर्म की रक्षा के निमित्त नारायण ने तुम्हें भेजा है। धर्म संस्थापन के द्वारा अपनी कीर्ति अमर करो।"

शिवाजी के शरीर के विषय में अंग्रेजों एवं फ्रेंच यात्रियों ने लिखा है, 'वे मझोले कद के थे किंतु शरीर अत्यन्त गठीला था। चलने-फिरने में अद्भुत तेजी और फुर्ती थी। गोरे मुख पर सदा मुस्कराहट छाई रहती थी, हँसी मानो टपकी पड़ती थी। आँखें बड़ी तेज थीं और सदा चंचल रहती थीं। रंग सर्वसाधारण दक्षिणियों की अपेक्षा गोरा था।" आगरा के पास के औरंगजेब के एक कर्मचारी ने लिखा है, "शिवाजी का शरीर तो तुच्छ छोटा सा ही है पर उनकी सूरत बहुत विलक्षण गोरे रंग की है। बिना पूछे स्पष्ट हो जाता है कि यह राजवंशीय है। हिम्मत और मर्दानगी रग-रग में झलकती है। बहुत ही मर्दाना और भारी हिम्मत वाला आदमी है। उसके दाढ़ी है।"

राजपूतों ने लिखा है, "शिवाजी बहुत समझदार है। जो बात कहता है, ठीक होती है। सचमुच ही वह भला राजपूत है। जैसा सुना था वैसा ही देखा। राजपूतपने की ऐसी बातें कहता है कि समय पर काम आये।"

शिवाजी के काल के कुछ विश्वस्त चित्र उपलब्ध हैं किंतु केवल दो चित्रों में उनके तेजपूर्ण व्यक्तित्व का ठीक ठीक अंकन हुआ है।

शिवाजी अपने राज्य में सब जाति की प्रजा को समान भाव से देखते थे। सबके लिये उनका एक-सा न्याय था। और सब की रक्षा एक प्रकार से होती थी। उनकी राजनीति उदार थी।

उनका चरित्र अनेकों सद्गुणों से पूर्ण था। उनकी मातृभक्ति, संतानप्रीति, इन्द्रियनिग्रह, धर्मानुराग, साधुसंतो के प्रति भक्ति, विलासवर्जन, श्रमशीलता और सब प्रकार के धार्मिक संप्रदायों के प्रति उदार भाव अतुलनीय थे। अपने राज्य की समस्त शक्ति से वे सतीत्व की रक्षा करते एवं अपनी फौज की उद्दण्डता का दमन कर सब धर्मों के उपासनागृहों और शास्त्रों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करते थे। साधु-संतों का वे सदा पालन-पोषण करते।

वे स्वयं निष्ठावान् एवं भक्त हिन्दू थे। भजन-कीर्तन सुनने को अधीर एवं साधु-संतो की सेवा तथा गो-ब्राह्मण प्रतिपालन में सदा रत रहते थे। युद्ध-यात्रा में कहीं 'कुरान' मिलने पर उसे नष्ट या अपवित्र नहीं करने देते थे, वरन् यत्न से रखकर पीछे उसे किसी मुसलमान को दे

देते थे। मस्जिद और इस्लामी मठपर कभी आक्रमण न करते थे। कट्टर मुसलमान इतिहासकार खाफी खाँ ने भी उनके उपर्युक्त गुणों की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। उनके राज्य में अनेक मुसलमान ऊँचे पदों पर नौकर थे। सब जातियों और धार्मिक संप्रदायों को अपनी अपनी उपासना की स्वाधीनता और संसारिक उन्नति का समान सुयोग प्राप्त था। शांति, सुविचार, सुनीति एवं प्रजा के धन-मान की रक्षा का सदा विचार रखा जाता था।

किसी मनुष्य को देखते ही शिवाजी उसके चरित्र और बल का ठीक ठीक अंदाजा लगा लेते थे तथा उसकी योग्यतानुसार उसका लाभ उठाते थे। उनका यह गुण आश्चर्य जनक था। उनके चरित्र की आकर्षण शक्ति चुम्बक की नाईं थी। इस कारण देश के चतुर, उत्तम एवं बड़े लोग उनके यहाँ आ जुटे थे। उनके साथ शिवाजी का व्यवहार भाई के समान होता था। वे सभी को संतुष्ट रख सकते थे और इस प्रकार उनकी आंतरिक शक्ति, विश्वास और सेवा प्राप्त करते थे। इसी कारण वे सदा संधि, विग्रह-शासन एवं राजनीति में बहुत सफल रहते थे। कब लड़ना, कब हटना, कब संधिकरना इस सब में वे भगवान् कृष्ण के समान सफल थे।

फौज के साथ वे सदा हिल-मिल कर उनके दुःख-सुख के साथी होकर रहते थे। अतः वे पूर्ण रूपेण उनके बंधु एवं उपास्य देवता बन गये थे। इस गुण में वे नेपोलियन के समान थे।

फौजी बंदोबस्त में सर्वत्र शृंखला, मौलिकता, नैपुण्य, दूरदर्शिता एवं सूक्ष्म दृष्टि का परिचय मिलता था। वे अनेक कामों की बागडोर अपने ही हाथों में रखते थे। निरक्षर शिवाजी में ये गुण पराकाष्ठा पर पहुँच गये थे। देश की वास्तविक दशा तथा फौज के स्वभावानुसार युद्ध की प्रणाली स्थिर करना वे अपनी प्रतिभा के बलसे ज्ञात कर लेते थे।

मध्ययुगीन भारत में वे ही प्रचण्ड तेजस्वी मुगलों से लोहा लेकर विरोध में खड़े हो सके। अन्य सभी हारकर पिस गये थे और लुप्त हो रहे थे किंतु शिवाजी निर्भीक विद्रोही बने रहे और सदा जयशाली रहे। औरंगजेब को मरते समय भी अपनी संतानों को उनके विषय में चेतावनी देनी पड़ी। उनके चरित्र में साहस एवं स्थिरता का अपूर्व समावेश था। कहाँ कितना आगे बढ़ना, कहाँ रुकना, किस समय कैसी नीति का अवलम्बन करना इन बातों में वे सदा सफल रहे। शिवाजी आज महाराष्ट्र में दिखलाई देते, तो कल कर्णाटक में और परसों पश्चिमी समुद्रतटवर्ती प्रदेशों में। अंग्रेज वणिकों ने अपनी एक चिट्ठी में लिखा है, "वे सदा कठोर कष्ट सहन कर जल्दी जल्दी कूच करते हैं और अपने कर्मचारियों को भी उसी प्रकार चलाये जाते हैं। सारे देश के राजा उनके भय से काँपते हैं। दिनपर दिन उनकी शक्ति बढ़ रही है।" लोग उनके संबंध में भय और आश्चर्य से भरे रहते थे। शिवाजी के विलक्षण तेज, उनकी अनोखी स्फूर्ति एव उनकी विभिन्न दिशाओं में

विजय देखकर औरंगजेब भी बड़े फेर में पड़ा हुआ था।

फ्रांसीसी दूत जारमाय्या ने शिवाजी के शिविर के विषय में लिखा है, "वहाँ किसी प्रकार की धूमधाम नहीं है। भारी भरकम चीजों या स्त्रियों की भी झंझट नहीं है। समस्त शिविर में केवल दो तम्बू हैं— छोटे एवं साधारण मोटे कपड़े के बने हुए। एक में शिवाजी रहते हैं, दूसरे में उनके पेशवा। मराठा सवारों का मासिक वेतन दस रुपया है। घोड़े और सईस राज्य की ओर से मिलते हैं। दो दो सिपाहियों के लिये तीन तीन घोड़े रहते हैं, इस कारण वे बहुत तेजी से चल सकते हैं। शिवाजी गुप्तचरोंको खुले हाथों रुपये बाँटते हैं जिससे वे भी सच्चे समाचार समय पर पहुँचा कर विजय में सहायक होते हैं।"

योद्धाओं की अमुक संख्या एवं अमुक धन-राशि से कितना बड़ा आक्रमण सफल होगा यह वे क्षण भरमें ही निर्णय करलेते थे। उनकी राजनैतिक प्रतिभा अद्वितीय थी। शासन पद्धति, सैन्य संगठन एवं कार्यकलाप—सब उनका अपना ही उत्पन्न किया हुआ होता था। महाराणा रणजीतसिंह अथवा सिंधिया की नाईं उन्होंने फ्रांसीसियों आदि से कभी सलाह या सहायता न ली।

जंजीरा, दंडा राजापुरी आदि स्थानों के सिद्दी हब्शियों को बश में लाने के लिये शिवाजी को जहाजी बेड़ा भी तैयार करना पड़ा। वे व्यापारी जहाज भी रखते थे। यद्यपि उनके बेड़े में चार सौ जहाज थे किंतु उस काल के विदेशी जहाजों की तुलना में ये नगण्य थे। हब्शियों के

जहाजों से भी ये कमजोर सिद्ध होते थे। औरंगजेब ने शिवाजी की नौ-शक्ति का दमन करने के लिये हब्शियों की सहायता ली। शिवाजी के जहाज कमजोर बने होने के कारण मराठों को प्रायः हार कर भाग जाना पड़ता था।

निरक्षर ग्राम्य बालक शिवाजी ने कितनी साधारण सी सामग्री से चारों ओर के कैसे विभिन्न प्रतापी शत्रुओं से युद्ध ठान कर मराठा जाति को स्वाधीनता के सिंहासन पर आरूढ़ किया, यह सदा भारतीय इतिहास की अमर कहानी बनी रहेगी। गुप्त और पाल साम्राज्य के पश्चात् शिवाजी के समान अन्य कोई ऐसा पराक्रमी शासक उत्पन्न नहीं हुआ है।

यत्र तत्र बिखरे, अनेकों राज्यों में विभक्त, मुसलमान शासकों के आधीन एवं दूसरों की नौकरी में लगे हुए मराठों को बुला-बुलाकर शिवाजी ने सुसंगठित कर दिखा दिया कि हम स्वयं अपने शासक बन सकते हैं और कुशलता पूर्वक युद्ध कर सकते हैं। इसी प्रकार उन्होंने स्वाधीन राज्य स्थापित कर एवं उसका कुशलता पूर्वक संचालन कर यह सिद्ध कर दिया कि हिन्दू भी राष्ट्र के सब विभागों का शासन समुचित रीति से करने की योग्यता रखते हैं। राजकाज - व्यवस्था, जलस्थल - युद्ध, साहित्य एवं शिल्प की उन्नति, व्यापारी जलयान एवं युद्धपोतों का निर्माण तथा धर्मरक्षा एवं राष्ट्र निर्माण सभी में उन्होंने अपनी योग्यता का अद्वितीय परिचय दिया।

शिवाजी के चरित्र से स्पष्ट है कि अक्षयवट की नाईं हिन्दू जाति के प्राण अमर हैं तथा शताब्दियों तक बाधाओं

और विपत्तियों से पीड़ित रहने पर भी पुनः सिर ऊँचा कर, नये शाखा-पल्लव प्रस्फुटित कर विकसित होने का आंतरिक बल इस जाति में गूढ़ रूप से निहित है।

रक्तामातिसार एवं ज्वर से पीड़ित हो वे जानगये कि अंत समय निकट है। उन्होंने कहा "जीवात्मा अविनाशी है। हम युग युग में फिर से पृथ्वी पर आयेंगे।" तत्पश्चात् उन्होंने दानपुण्य आदि क्रियाकर्म किये और कुछ घंटे चेतनाशून्य रहकर अनन्त निद्रा में लीन हो गये। उस समय आपकी आयु लगभग ५३ वर्ष की थी।

चन्द्रमा और हिमालय पर्वत भी इतने शीतल नहीं, कदली वृक्ष और चन्दन भी इतने शीतल नहीं, जितना तृष्णारहित चित्त शीतल रहता है।

— वसिष्ठ

प्रश्नः—आज मनुष्य विज्ञान के सहारे नयी सृष्टि रच रहा है—वह नये उपग्रह बनाकर अन्तरिक्ष में छोड़ रहा है। कृत्रिम गर्भाधान भी सफल हो चुके हैं। ऐसे प्रयोग चले हैं जिनसे माता के गर्भ का सहारा न लेते हुए भी शिशु का जन्म प्रयोगशाला में हो सकेगा। ऐसी दशा में ईश्वर का स्थान कहाँ रहेगा?

—डा० (कु०) कमल वासवानी, दिल्ली

उत्तरः—तात्त्विक ज्ञान की दृष्टि से वेदान्त की ज्ञान-प्रणाली सर्वोत्कृष्ट है। वेदान्त की दृष्टि से प्रत्येक जीव ही शिव है, हर आत्मा ही परमात्मा है। अज्ञान के कारण मनुष्य अपने ईश्वरत्व का बोध नहीं कर पाता। इसका मतलब यह हुआ कि मनुष्य ईश्वर के ही समान सब कुछ करने में समर्थ है, उसमें अनन्त शक्ति है। हाँ, उसे इस शक्ति के प्रकटन का उपाय जानना चाहिए।

मनुष्य दो धरातलों पर कार्य करता है—शरीर और मन। यदि वह अज्ञान के बन्धनों को काट सके तो वह दोनों धरातलों पर असीम शक्तिसम्पन्न हो जायगा। शरीर भौतिक धरातल है और इसी पर विज्ञान की अलौकिक शक्तियाँ प्रकट हुई हैं। यह जो मनुष्य नयी सृष्टि रच रहा है, उपग्रह बना रहा है, यह इसी सत्य की पुष्टि करता है कि मनुष्य में अनन्त शक्ति है—जैसे बाहरी जगत् के सन्दर्भ में, वैसे ही भीतरी (अध्यात्म) जगत् के सन्दर्भ में भी। यदि किसी दिन गर्भ के बाहर प्रयोगशाला में शिशु का जन्म हो जाय, तो उससे ईश्वर को कोई आँच न आयेगी, बल्कि मनुष्य का ईश्वरत्व और सिद्ध हो जायगा।

गड़बड़ी इसलिए उत्पन्न होती है कि हम ईश्वर को व्यक्तिविशेष समझते हैं और उसके सम्बन्ध में कल्पना करते हैं कि वह कहीं विराजित होगा और वहाँ से विश्व का काम-काज चला रहा होगा। ईश्वर वास्तव में ऐसा नहीं है। वह तो विश्व में सर्वत्र व्याप्त 'नियम' (Law) है, अथवा, आइंस्टीन की भाषा में कहें तो 'महत् बुद्धि' (Supreme Intelligence) है। जैसे धर्म इस 'महत् बुद्धि' अथवा 'सर्वव्यापी नियम' की खोज है, उसी प्रकार विज्ञान भी इसी की खोज है। नयी सृष्टि बनाने अथवा उपग्रह रचने अथवा प्रयोगशाला में शिशु उत्पन्न करने के मिस से वास्तव में विज्ञान उस अनुस्यूत नियम या 'महत् बुद्धि' को ही पकड़ना चाहता है। जिस दिन वैज्ञानिक उस सर्वानुस्यूत नियम को पकड़ लेगा, उस दिन वह ईश्वर ही

हो जायगा। धर्म भी ठीक यही बात कहता है। धर्म से मेरा तात्पर्य वेदान्त से है।

यदि आप इस दृष्टिकोण से विचार करें तो देखेंगे कि विज्ञान और ईश्वर कोई परस्पर-विरोधी तत्त्व नहीं हैं। विज्ञान का अर्थ उसके आविष्कार नहीं लेना चाहिये। उपग्रह, कृत्रिम गर्भाधान अथवा गर्भ के बिना उत्पन्न शिशु— यह सब विज्ञान नहीं है, वह विज्ञान का चमत्कार है। विज्ञान, ज्ञान की अनुसन्धानात्मक प्रवृत्ति को कहते हैं। जब हम इन्द्रियग्राह्य जगत् को छानबीन का विषय बनाकर उस सर्वानुस्यूत नियम को पकड़ने जाते हैं तो वह 'विज्ञान की प्रणाली' कहलाता है और जब मन को खोज का विषय बनाकर उस ओर बढ़ते हैं तो वह 'धर्म की प्रणाली' के नाम से पुकारा जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि मनुष्य का ईश्वरत्व अकाट्य है। इसी अर्थ में वेदान्त कहता है कि मनुष्य ईश्वर ही है। केवल अज्ञान की परतें भर खुलती हैं कि वह छिपा हुआ ईश्वरत्व प्रकट हो जाता है। विज्ञान उत्तरोत्तर मनुष्य के इसी ईश्वरत्व को उद्घाटित कर रहा है।

आश्रम समाचार

(२१ फरवरी से ३० अप्रैल तक)

इस अवधि में स्वामी आत्मानन्द रायपुर से लगभग बाहर ही रहे। इसलिए आश्रम की रविवासरीय उपनिषद्-प्रवचनमाला बन्द रही।

स्वामीजी रामकृष्ण आश्रम द्वारा आमन्त्रित होकर २२ फरवरी को ग्वालियर पहुँचे। उस दिन भगवान् श्रीरामकृष्ण देव का जन्मोत्सव सोल्लास मनाया गया। सन्ध्या एक सार्वजनिक सभा का आयोजन किया गया था जिसकी अध्यक्षता ग्वालियर की राजमाता श्रीमती सिंधिया राजे ने की थी। स्वामी आत्मानन्द ने 'श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द' पर विचारप्रवण भाषण करते हुए कहा कि स्वामी विवेकानन्द श्रीरामकृष्ण-जीवन रूपी वेद के भाष्य थे। विवेकानन्द के जीवनालोक में ही श्रीरामकृष्ण को कुछ-कुछ समझा जा सकता है। विवेकानन्द और श्रीरामकृष्ण में किसी प्रकार का विरोधाभास नहीं है, जैसी कुछ लोगों की धारणा है। वे दोनों मानो एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। दोनों को अलग-अलग करके नहीं समझा जा सकता।

२२ फरवरी को रायपुर के आश्रम में भी भगवान् श्रीरामकृष्ण देव की जयन्ती धूमधाम से मनायी गयी। सुबह मंगल-आरती, विशेष पूजन आदि से कार्यक्रम शुरू हुआ और सन्ध्या आश्रम के सत्संग भवन में सार्वजनिक सभा हुई जिसमें डा० नरेन्द्र देव वर्मा, प्राध्यापक कनककुमार तिवारी और पंचायती राज प्रशिक्षण केन्द्र के प्राचार्य श्री दुर्गादत्त झा ने श्रीरामकृष्ण देव के जीवन और सन्देश पर अपने विचार व्यक्त किये।

२३ फरवरी को स्वामी आत्मानन्द को ग्वालियर के इंजीनियरिंग कालेज में आमन्त्रित किया गया। वहाँ उन्होंने उत्सुक शिक्षकों

और विद्यार्थियों के समक्ष 'धर्म का वैज्ञानिक स्वरूप' पर अत्यन्त युक्तियुक्त और विचारोत्तेजक व्याख्यान दिया। कार्यक्रम की अध्यक्षता कालेज के प्राचार्य महोदय ने की। स्वामीजीने अपने भाषण में धर्म और विज्ञान की अनुसंधानात्मक प्रणालियों का तुलनात्मक विवेचन किया और यह सिद्ध किया कि धर्म की प्रणाली भी पूरी तरह वैज्ञानिक है। उन्होंने कहा कि जैसे 'विज्ञान' शब्द से हम भौतिक जगत् का विश्लेषणात्मक और सुसम्बद्ध ज्ञान समझते हैं, वैसे ही 'धर्म' शब्द भी आन्तरिक या मानसिक जगत् का श्रृंखलाबद्ध ज्ञान सूचित करता है। सर्वसाधारण में 'धर्म' का जो अर्थ प्रचलित है, वह अत्यन्त उथला है और कहीं-कहीं तो विकृत भी है। व्यक्तित्व के परिष्करण और समुचित विकास के लिए धर्म और विज्ञान दोनों समान रूप से उपयोगी हैं। दोनों एक दूसरे के विरोधी नहीं बल्कि परिपूरक हैं।

स्वामीजी के भाषण के बाद श्रोताओं में से अनेकों ने विभिन्न प्रश्न पूछे। यह प्रश्नोत्तरी लगभग एक घंटे तक चलती रही। स्वामी जी ने सभी प्रश्नों के समुचित उत्तर प्रदान किये। श्रोताओंने अपना संतोष प्रकट किया।

उसी रात्रि 'विवेकानन्द शिला स्मारक समिति', ग्वालियर शाखा की ओर से आयोजित विशेष सभा में स्वामीजी ने 'विवेकानन्द-शिला' पर प्रभावी भाषण दिया। उन्होंने बतलाया कि कैसे उस शिला पर बैठकर स्वामी विवेकानन्द ने भावी भारत के उत्थान की कल्पना की थी और उस कल्पना को साकार करने की योजना बनायी थी। विवेकानन्द-शिला पर ही मानो भारत की युगों से सुप्त चेतना करवट बदलती है। शिला पर बैठकर ही आत्मद्रष्टा विवेकानन्द राष्ट्रद्रष्टा ऋषि बने थे। वहीं पर वे अपने ही शब्दों में Condensed India (घनीभूत भारत) बने थे।

२६ फरवरी को स्वामी आत्मानन्द ने सनातन धर्म सभा के प्रांगण में श्रीरामकृष्ण देव के उपदेशों की व्यावहारिकता पर भाषण दिया। विषय था—'श्रीरामकृष्ण देव के उपदेशों को जीवन में कैसे उतारें ?' ज्ञानमन्दिर का कक्ष श्रोताओं से खचाखच भर गया था। आत्मानन्दजीने भगवान् श्रीरामकृष्ण के सहज, सरल, अनुभूतिमय जीवन पर चर्चा करते हुए उनके व्यावहारिक दृष्टान्तों का विशेष रूप से विवेचन किया और यह विस्तार से समझाया कि हम अपने जीवन के हर क्षण का उपयोग आत्मोत्थान के लिए कैसे कर सकते हैं। पुरुष और स्त्री, अपने-अपने लघु संसार का बोझ सिर पर रखकर, कैसे ईश्वर की ओर उन्मुख हो सकते हैं, यह स्वामीजी ने श्रीरामकृष्ण के उदाहरणों से स्पष्ट किया।

उसी रात्रि राजवाड़ा चौक में उन्होंने 'भक्तिमीमांसा' पर सरस चर्चा की। भक्ति के प्रमुख तत्त्वों का निरूपण करते हुए जीवन में उनकी सुलभता और सहज व्यवहार्यता पर सुन्दर प्रकाश डाला।

२७ फरवरी को ग्वालियर-स्थित रामकृष्ण आश्रम में आत्मानन्दजी ने 'भारत को स्वामी विवेकानन्द की देन' पर प्रेरणास्पद भाषण दिया। उन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के भारत का चित्रण सूक्ष्म रूप से करते हुए तत्कालीन राष्ट्र-नेताओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया और उस परिप्रेक्ष्य में स्वामी विवेकानन्द के कार्यों का मूल्यांकन किया। भारतीय संस्कृति और अध्यात्म को वैज्ञानिक आधार प्रदान करते हुए किस प्रकार स्वामी विवेकानन्द ने भारत के पराधीन, पददलित, आत्मविश्वासहीन जनमानस को आत्मप्रत्यय और आत्माभिव्यक्ति का सम्बल दिया, इसका हृदयग्राही विश्लेषण उपस्थित करते हुए आत्मानन्दजी ने स्वामी विवेकानन्द की मौलिकतापर चर्चा की।

६ से १३ मार्च तक स्वामी आत्मानन्द लोनावला में रहे। बंबई के प्रसिद्ध उद्योगपति सेठ हरिकिशनदासजी अग्रवाल ने तुलसी साधना कुटीर के तत्त्वावधान में लोनावला में एक सप्तदिवसीय ज्ञान-साधना-शिविर का आयोजन किया था। आत्मानन्दजी इस शिविर के लिए आमंत्रित थे। उन्होंने इस अवसर पर श्रीमद्भगवद्गीता के बारहवें अध्याय पर प्रवचन किये।

१५ से १८ मार्च तक आत्मानन्दजी के व्याख्यान भारतीय विद्या भवन, बम्बई में होते रहे। यहां पर उन्होंने चारों दिन, श्रोताओं के आग्रह पर, श्रीरामकृष्ण देव के जीवन और उनके उपदेशों पर चर्चा की।

२६ से ३० मार्च तक स्वामी आत्मानन्द कलकत्ते में रहे। वहाँ २९ मार्च को श्रीमती सरोज कौशिक के मैंडेविले गार्डन स्थित निवासस्थान पर आयोजित गोष्ठी में स्वामीजी ने 'कर्मरहस्य' पर विचार प्रकट किये।

१० अप्रैल को रामकृष्ण सेवा संघ, भिलाई, द्वारा श्रीरामकृष्ण-जयन्ती-महोत्सव का आयोजन किया गया था, जिसके अन्तर्गत एक सार्वजनिक सभा हुई थी। इस अवसर पर डा॰ नरेन्द्र देव वर्मा ने 'युगावतार श्रीरामकृष्ण' पर प्रभावी भाषण दिया। प्राध्यापक देवेन्द्र कुमार वर्मा ने 'स्वामी विवेकानन्द' के लोकोत्तर चरित्र पर प्रकाश डाला। संघ के सचिव श्री घनश्याम श्रीवास्तव ने 'वर्णाश्रम' पर अपने विचार व्यक्त किये। स्वामी आत्मानन्द ने 'समन्वयाचार्य श्रीरामकृष्ण' पर बोलते हुए जीवन में व्याप्त विषमताओं और मन में उठनेवाली अनेकविध शंकाओं की चर्चा की और श्रीरामकृष्ण देव के जीवनालोक में उन्हें किस प्रकार दूर किया जा सकता है, यह प्रदर्शित किया।

२५ अप्रैल को स्वामीजी रतलाम में थे। वहाँ की रामायण मेला समिति ने उन्हें आमंत्रित किया था। उस दिन धूमधाम के साथ शंकराचार्य-जयन्ती मनायी गयी। रात्रि में इस जयन्ती के निमित्त आयोजित विशाल सभा की स्वामी आत्मानन्द ने अध्यक्षता की। अपने अध्यक्षीय भाषण में स्वामीजी ने शंकराचार्य के भक्ति-पक्ष का विवेचन किया और बताया कि शंकराचार्य का बाहरी आवरण तो ज्ञान का था, पर भीतर वे भक्ति-रस से लबालब भरे हुए थे।

दूसरे दिन २६ अप्रैल को रेलवे कालोनी, रतलाम ने विशाल पैमाने पर धर्म-सभा का आयोजन किया था, जिसमें स्वामी आत्मानन्द ने 'धर्म' विषय पर प्रवचन किया। उन्होंने धर्म की उत्पत्ति का इतिहास बताते हुए उसके व्यक्तिगत, परिवारगत, समाजगत, राष्ट्रगत और विश्व त रूपों का विवेचन किया और कहा कि धर्म धारण करनेवाला, इकट्ठा करनेवाला तत्त्व है। बाँटने या बिखेरनेवाले तत्त्व अधर्म की कोटि में आते हैं। आधुनिक युग के भौतिक उत्कर्ष के सन्दर्भ में धर्म की भूमिका क्या हो सकती है, इसपर भी स्वामीजी ने सांगोपांग विवेचन किया।

२७ और २८ अप्रैल को रामकृष्ण आश्रम, इन्दौर में स्वामीजी के 'वेदान्त' पर दो मननीय प्रवचन हुए। उन्होंने इन दो प्रवचनों में वेदान्त की उत्पत्ति और उसके स्वरूप पर भाषण दिया। उन्होंने बताया कि वेद मानवमन के विकास का इतिहास है। वेदों में हम आदिम मन को अधिकाधिक संस्कारी होते देखते हैं और अन्त में वेदान्त में हमें मानव मनकी सम्पूर्णता दृष्टिगोचर होती है। स्वामीजी ने प्रचुर दृष्टान्तों और उदाहरणों के माध्यम से वेदान्त के गूढ़ तत्त्वों को सहजगम्य बनाते हुए वेदान्त के विभिन्न पक्षों पर चर्चा की।

मुद्रक-श्री विश्वेश्वर प्रेस, वाराणसी-१.

Registered with the Registrar of News papers
for India under No. RN 7764/63.

श्रीरामकृष्ण उवाच

मन से ही बद्ध, मन से ही मुक्त। मैं मुक्त पुरुष हूँ; संसार में ही रहूँ अथवा अरण्य में रहूँ, मुझे क्या बन्धन है ? मैं ईश्वर की सन्तान हूँ, राजाधिराज का पुत्र हूँ; मुझे भला कौन बाँध सकता है ? यदि साँप डस दे तो दृढ़तापूर्वक 'विष नहीं है' कहने से जहर उतर जाता है ! उसी प्रकार 'मैं बद्ध नहीं हूँ, मैं मुक्त हूँ' यह बात जोर देकर कहते कहते मनुष्य वैसा ही हो जाता है, मुक्त ही हो जाता है।

किसी ने मुझे ईसाईयों की एक पुस्तक दी। मैंने उसे पढ़कर सुनाने को कहा। उसमें केवल 'पाप और पाप' की बात थी ! (केशवचन्द्र सेन के प्रति) तुम लोगों के ब्राह्मसमाज में भी केवल 'पाप' की बात है। जो व्यक्ति बारम्बार कहता है, 'मैं बद्ध हूँ, मैं बद्ध हूँ,' वह बद्ध ही हो जाता है ! जो रात - दिन 'मैं पापी हूँ' 'मैं पापी हूँ' कहता रहता है, वह पापी ही हो जाता है।

ईश्वर के नाम में ऐसा विश्वास होना चाहिए — 'मैंने जब ईश्वर का नाम लिया है तो अब भी क्या मुझमें पाप रहेगा ! मेरा पाप से क्या सम्बन्ध ? मुझे भला क्या बन्धन हो सकता है ?' कृष्ण-किशोर परम हिन्दू सदाचारी ब्राह्मण था। वह एक बार वृन्दाबन गया। घूमते घूमते उसे प्यास लग आयी। वह एक कुएँ के पास गया। देखा, वहाँ एक व्यक्ति खड़ा है। उससे वह बोला, 'क्यों भाई ! मुझे एक लोटा पानी दे सकते हो ? तुम्हारी कौनसी जात है ? वह व्यक्ति बोला, 'महाराज, मैं नीच जात का हूँ, मोची हूँ।' कृष्णकिशोर ने कहा, 'अच्छा, तू शिव बोल और अब जल निकाल दे।' भगवान् का नाम लेने से तन - मन दोनों शुद्ध हो जाते हैं।

— २७ अक्तूबर, १८८२

मुद्रक — श्री विश्वेश्वर प्रेस बुलानाला वाराणसी — १